

प्रथम अध्याय
यथार्थः अवधारणा और स्वरूप

यथार्थ:अवधारणा और स्वरूप

साहित्य की सम्यक पहचान हेतु यथार्थ रूपी पदबंध को समझना आवश्यक है। यथार्थ की परिभाषा, उसका अर्थ, उसकी व्याख्या करने वाले साहित्यिक संश्लेषण-यथार्थवाद की अवधारणा, उसके स्वरूप तथा उसके स्रोत की सम्मिलित परख किसी कलाकार (कहानीकार) को बेहतर ढंग से समझने की एक सुनियोजित प्रक्रिया है। इसी प्रक्रिया के अंतर्गत मार्कण्डेय का कहानीकार भी पहचाना जाता है। यहाँ निम्न बिंदुओं के आलोक में यथार्थ की अवधारणा और उसके स्वरूप को समझा जा सकता है।

1.1 यथार्थ: अर्थ एवं परिभाषा

‘यथार्थ’ दो पदों की संधि से निर्मित है: ‘यथा’ और ‘अर्थ’। ‘यथा’ अव्यय है जिसका हिंदी समानार्थी पद है ‘जैसा’। अर्थ के प्रमुख हिंदी समानार्थी पद हैं ‘वस्तु’, ‘द्रव्य’, ‘पदार्थ’ आदि। ‘अर्थ’ ज्ञानेन्द्रियों का विषय है। ज्ञानेन्द्रियों के विषय पाँच माने गये हैं- रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द।¹ यहाँ वैशेषिक दर्शन में मन संबंधी व्याख्या अनुसार कहा जाए तो “रूप”, “रस”, “गंध”, “स्पर्श”, और “शब्द” आदि वस्तुएँ ‘अर्थ’ की सीमा में आएँगी। पाँच ज्ञानेन्द्रियों के अतिरिक्त उनका स्वामी मन है जो अनुभव करता है। मन ही ज्ञान बोध या प्रत्यय (**Perception and cognition**) को ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से ग्रहण करता है और उन्हें आत्मा तक पहुँचाता है।² इसी प्रकार वेदान्तसार में अंतःकरण संबंधी व्याख्यानुसार –“ मस्तिष्क की ही एक शक्ति बुद्धि है, जो ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त बोधों को स्मृति की सहायता से एकत्र, संश्लेषित और विश्लेषित करके नये और मौलिक निष्कर्ष प्राप्त करती है।”³ जिसके संक्षेपानुसार यह कहा जा सकता है कि पाँच ज्ञानेन्द्रियों, मन और बुद्धि के द्वारा प्राप्त बोधों, अनुभवों और निष्कर्षों को उनके वास्तविक रूप में, अर्थात् वे जैसे हैं, उसी रूप में (यथा-अर्थ) प्रस्तुत करना यथार्थ है।

पर यथार्थ विषयक उक्त दृष्टिकोण ही सर्वमान्य परिभाषा या अर्थ है, ऐसी बात नहीं है। साहित्य जगत् के विभिन्न विद्वानों की मान्यताओं तथा कोशों में भी यथार्थ शब्द के अर्थ सुनिश्चित करने का प्रयास हुआ है। श्याम सुन्दर दास द्वारा संपादित ‘हिंदी शब्द सागर’ के आठवें भाग के 4058 वें पृष्ठ में यथार्थ का अर्थ कुछ इस प्रकार किया गया है। यथार्थ—“जैसा ठीक होना चाहिए, वैसा, ज्यों का त्यों। जैसे का तैसा।”⁴ अर्थात् जिस रूप में है उसकी अविकल

प्रस्तुति। इसी प्रकार डॉ. नगेन्द्र द्वारा संपादित साहित्यकोश (मानविकी खण्ड) के 431 वें पृष्ठ में यथार्थ की परिभाषा कुछ इस प्रकार दी गयी है। यथार्थ—“ जिसका अस्तित्व वास्तव में है। जो वस्तु में अंतर्निष्ठ हो प्रत्यक्ष हो जो अब घटित हो रहा हो। अतीत नहीं है भावी व सैद्धांतिक भी नहीं है। जो सुनिश्चित है, प्रामाणिक है, खरा और तथ्यपरक है।”⁵ कहने का तात्पर्य जो प्रत्यक्ष तथा वर्तमान में है। यहाँ यह स्पष्ट होता है कि यथार्थ की परिभाषा को सुनिश्चित करने की एक लंबी प्रक्रिया है और वह वर्तमान में भी जारी है।

यथार्थ का यथार्थवाद से एक आत्यांतिक संबंध है। पश्चिम जगत् में भी ‘यथार्थ’ की अवधारणा ‘यथार्थवाद’ संबंधी चिंतन के प्रसंग में अब तलक व्याख्यायित होती आयी है। अंग्रेजी में ‘यथार्थवाद’ के लिए रियलिज़्म जैसे शब्द का प्रचलन है, जिसका समानार्थी शब्द यथार्थ के रूप में मिलता है। इस संदर्भ में डॉ. सत्यकाम भी लिखते हैं—“ यथार्थवाद की धारणा यूरोपिय चिंतन की देन है और अंग्रेजी में इसके लिए ‘रियलिज़्म’ पद प्रयुक्त होता है। संस्कृत में इसके समानार्थी शब्द ‘सत्य’, ‘वास्तव’, ‘तथ्य’, ‘यथार्थ’ आदि हैं। इनमें ‘यथार्थ’ ही रियलिज़्म का समानार्थी बनने में समर्थ हुआ है।”⁶ यथार्थवाद यथार्थ को व्यापक फलक से जोड़ने का कार्य करता है। जिसे हावर्ड फास्ट के निम्न कथन में समझा जा सकता है—“यथार्थवाद ही वह साहित्यिक संश्लेषण है, जो चुनाव और सृजन के द्वारा यथार्थ के बार में पाठक की समझ को बढ़ाता है।”⁷

अतः यहाँ यह सहज ही कहा जा सकता है कि कथा साहित्य को समझने की प्रक्रिया में यथार्थ को समझना जरूरी लगता है और यथार्थ को समझने हेतु ‘यथार्थवाद’ को समझना अति आवश्यक।

1.2 यथार्थवाद

यथार्थवाद वह साहित्यिक संश्लेषण है, जो यथार्थ की प्रकृति को स्पष्ट करता है। उसके प्रति सही समझ विकसित करता है। पश्चिम ही नहीं, भारतीय साहित्य में भी यथार्थ को यथार्थवाद के विश्लेषण के अंतर्गत समझने का प्रयास हुआ है। यहाँ यथार्थवाद की अवधारणा, स्वरूप तथा उसके उदय के स्रोत को समझने की प्रक्रिया ‘यथार्थ’ को विस्तार में समझने की ही एक कड़ी है।

1.2.1 अवधारणा

यह एक सच्चाई है कि साहित्यिक पद वैज्ञानिक पद की तरह नहीं होते, क्योंकि ये सुनिश्चित अर्थ के द्योतक नहीं होते हैं। इसलिए इसकी व्याख्या और पुनःव्याख्या की प्रक्रिया अविरल चलती है। साहित्यिक पदों की परिभाषा की प्रक्रिया में विद्यमान खतरों को भाँपते हुए ही जे. एफ. कड्डन यहाँ तक कह डालते हैं कि—“यथार्थवाद इतना आपवादिक रूप से लचीला अनेकार्थी और अनिश्चित पद है कि हमारा काम इसके बिना भी चल सकता है।”⁸ यद्यपि इस उद्धरण में ‘यथार्थवाद’ पद की व्याख्या या उसे परिभाषित करने के दौरान हुए खिलवाड़ का संकेत तो मिलता है तथापि इस बात को स्वीकार नहीं किया जा सकता है कि इसके वगैर हमारा काम चल सकता है। ‘यथार्थवाद’ खासकर कथा साहित्य के परिप्रेक्ष्य में अनिवार्य- सा लगता है। इसलिए इस पर हुयी विचारणा को देखना और समझना अति-आवश्यक है।

साहित्य के पारिभाषिक शब्दों के अपने कोश में यथार्थवादी विचारणा को स्पष्ट करते हुए शिप्ले ने उसे तीन भूमियों पर अलग-अलग समझने की आवश्यकता पर बल दिया है:

“क. चित्रण को अधिक समर्थ, पूर्ण तथा प्रभावशाली बनाने के हेतु वस्तुस्थिति के एक-एक ब्यौरे को एकदम सही रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास।

ख. एक प्रेरक सिद्धांत अथवा सम्पूर्ण साहित्यिक निर्माण को अनुशासित करने वाले एकमात्र सौन्दर्यशास्त्रीय प्रतिमान अथवा लक्ष्य के रूप में उसकी स्वीकृति।

ग. वह आंदोलन, जो दूसरी स्थिति से प्रेरणा ग्रहण करता हुआ 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विकसित हुआ।”⁹

शिप्ले द्वारा व्याख्यायित यथार्थवाद की पहली स्थिति आद्यान्त साहित्य और कला रूप पर प्रत्येक युग में देखी जा सकती है। हाँ, दूसरी और तीसरी स्थिति ने यथार्थवाद को एक वाद का रूप दिया जिसके अंतर्गत साहित्यकार एक प्रेरक सिद्धांत अथवा सम्पूर्ण साहित्यिक निर्माण को अनुशासित करने वाले सौन्दर्य शास्त्रीय प्रतिमान के रूप में उसको स्वीकार करता है। इस संदर्भ में शिवकुमार मिश्र लिखते हैं—“यथार्थवाद की यह दृष्टि मूलतः दार्शनिक तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर स्थित एक शुद्ध दृष्टि है। इस दृष्टि से युक्त रचनाकार केवल सौन्दर्य की उपलब्धि के लिए

यथार्थ स्थितियों के आदर्शीकरण का न केवल विरोध करता है, अभिव्यक्ति की एक ठोस वस्तुगत शैली तथा विषय वस्तु के चुनाव में अतिमानवीय, अतिप्राकृतिक तथा विज्ञान द्वारा अमान्य घटनाओं, स्थितियों तथा तथ्यों के सम्पूर्ण बहिष्कार की माँग भी करता है।¹⁰ शिप्ले द्वारा यथार्थवाद की उपर्युक्त व्याख्या तथा डॉ. शिवकुमार मिश्र द्वारा उसके विश्लेषण से जो मुख्य बातें छन कर आती हैं, वे कुछ इस प्रकार हैं। पहला, यथार्थवाद: एक प्रभावशाली चित्रण का पक्ष (जहाँ वस्तुस्थिति के सापेक्ष में कला का सटीक प्रस्तुतीकरण किया जाता है)। दूसरा, यथार्थवाद: एक प्रेरक और प्रतिष्ठित (19वीं सदी के उत्तरार्द्ध के बाद) प्रतिमान (जो सम्पूर्ण साहित्यिक निर्माण को अनुशासित करता है)। तीसरा, यथार्थवाद : अप्राकृतिक, अतिमानवीय तथा नकार स्थितियों, वस्तुओं और घटनाओं से निर्लिप्ति दृष्टि।

उल्लेखनीय है कि अर्नस्ट फिशर यथार्थवाद के प्रति एक अलग राय रखते हैं। उनके मतानुसार कला के क्षेत्र में यथार्थ सम्बंधी धारणा बड़ी लचीली और अस्पष्ट है। यह कभी एक शैली या पद्धति के रूप में व्याख्यायित होता है तो कभी एक दृष्टिकोण के रूप में। उनके अनुसार बाह्य यथार्थ और कलाकृति में प्रस्तुत होने वाला यथार्थ अलग-अलग चीजें हैं—“...वह कलाकार केवल एक संवेदी अवयव का सहायक ही नहीं है, जो कि बाह्य जगत को ग्रहण कर रहा है, वरन वह एक ऐसा मनुष्य है जो कि वर्ग, युग तथा राष्ट्र विशेष से सम्बद्ध है। उसका अपना विशिष्ट स्वभाव तथा चरित्र है...ये सब मिलकर एक ऐसे यथार्थ का निर्माण करते हैं जो बाहर उपस्थित पेड़ों, चट्टानों तथा बादलों आदि से वृहत्तर हैं...।”¹¹ जाहिर है कि अर्नस्ट फिशर की उपर्युक्त मान्यता अन्य यथार्थवाद चिंतकों से निराली है। उनकी इस मान्यता से मार्क्सवादी कला चिंतकों को सदा गुरेज रहा है। इस संबंध में मार्क्सवादी चिंतक साफ शब्दों में यह कहते हैं—“कला के अन्तर्गत स्थान पाने वाला यथार्थ बाह्य यथार्थ से विशिष्ट होते हुए भी अन्ततः उसी का अविच्छिन्न अंग है।”¹² जिससे स्पष्ट समझा जा सकता है कि अर्नस्ट फिशर की यथार्थ संबंधी मान्यता में बाह्य यथार्थ और कलागत यथार्थ के अंतर के भ्रम को अन्य यथार्थवादी चिंतक पुरजोर ढंग से निराकरण करते हैं।

लूकाच की यथार्थवाद संबंधी अवधारणा में कलागत वैशिष्ट्य के रक्षा-भाव के साथ पद्धति और दृष्टिकोण-दोनों रूपों में यथार्थ को स्वीकृति मिलती है। रोहिताश्व इस संबंध में उनके मत को उद्धृत करते हैं—“जार्ज लूकाच के अनुसार भी यथार्थवाद की केन्द्रीय सौन्दर्यशास्त्रीय समस्या

सम्पूर्ण मानव व्यक्ति का पर्याप्त मात्रा में समुचित प्रस्तुतीकरण है। एक यथार्थवादी कलाकार वास्तविकता और सत्य चित्रण को ईमानदारी और निष्ठा से करता है, और इसके लिए कोई भी शैली, शिल्प और वस्तु का चुनाव कर सकता है। परंतु, किसी भी यथार्थवादी रचनाकार के लिए यह सतर्कता आवश्यक होती है कि यथार्थ के नाम पर किए जाने वाले समस्त विद्वेष और विरूप चित्रण तथा धिनौने और कुरूप के प्रति घृणा के स्थान पर प्रेम सिखानेवाले चित्रण को अपनी रचनाओं में स्थान दें।¹³ जिससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि लूकाच यथार्थवादी चित्रण के अंतर्गत मनुष्य को उसकी सम्पूर्णता में अर्थात् परिवेश और परिस्थितियों की संश्लिष्टता में प्रस्तुत करने की हिमायत करते हैं। वे कलाकार की वस्तु और शिल्प चुनने की स्वतंत्रता तो देते हैं, किंतु यथार्थ के अंतर्गत उससे अविचिछन्न अपना कुछ प्रक्षेपित करने पर गलत ठहराते हैं।

ध्यातव्य हो कि अनेक साहित्यिकों, चिंतकों, तथा कला-मनीषियों ने समय-समय पर यथार्थवाद की अवधारणा को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उसे सैद्धांतिक आधार प्रदान करना चाहा है, किंतु इस परिप्रक्ष्य में मार्क्सवादी चिंतकों का विशेष योगदान रहा है, जैसा कि ऊपर भी उल्लिखित है। उन्होंने यथार्थवाद के नवीन तथा क्रांतिकारी पक्ष का भी उद्घाटन किया है। उदाहरणस्वरूप सेंट साइमन, आगस्टी काम्टे, फायरबाख, द्रोवो ल्यूबोव, डार्विन, मार्क्स, एंगेल्स, वैंलेस्की, हर्जन, चर्निश्वस्की जैसे दार्शनिक मनीषियों का नाम लिया जाता है, जिन्होंने साहित्य के क्षेत्र में यथार्थवादी दृष्टि के निर्माण में अपना अप्रतिम योगदान किया है।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में भी यथार्थवाद की अवधारणा संबंधी चर्चा मिलती है, जो यथार्थवादी साहित्य को सुस्पष्ट करने की एक प्रक्रिया मालूम पड़ती है। डॉ. शिवकुमार मिश्र इस संबंध में अपनी बात कहते हैं। वे 'यथार्थवाद' में कलाकार की परिवेश के प्रति सजगता के साथ-साथ उसके चुनाव की स्वतंत्रता पर विशेष बल देते हैं। इस संबंध में वे लिखते हैं—“यथार्थवादी रचनाकार बाह्य व्यापक परिदृश्य के बीच से आवश्यक वस्तु का चुनाव करता है, जीवनानुभवों को तराशता है और उन्हें कलात्मक रूप प्रदान करता है। अतः जो सृष्टि सामने आती है, बाह्य जगत् अथवा वास्तविकता का प्रतिरूप होकर नहीं आती उसका ईमानदार किंतु कुछ निखरा हुआ रूप होती है।... यह रूप यथार्थ की संगति में होता हुआ भी उसकी 'फोटोग्राफिक' अनुकृति नहीं होता और ना ही उस प्रतिबिम्ब के समान होता है, जिसे दर्पण ज्यों का त्यों प्रस्तुत कर देता है।”¹⁴ जिससे स्पष्ट

होता है कि यथार्थवाद न तो पूर्ण एवं निर्दोष मानव के चित्रण की अपेक्षा करता है, और ना प्रेम अथवा साहस के मनोरंजक क्रिया-कलाप प्रस्तुत करता है। यह न तो जीवन की ज्यों की त्यों अनुकृति होती है, और ना ही उसका पूर्णरूपेण प्रतिबिम्बन। बल्कि, यहाँ जीवन को उसके यथावत् में चित्रित करने का एक ईमानदार संकल्प होता है, जो उसे प्रत्यक्षतः वस्तु जगत् की सत्ता से जोड़ता है और परोक्षतः वर्तमान के यथावत् चित्रण से। किंतु, यह यथावत् रूप में प्रस्तुत करने का संकल्प न तो यथास्थितिवाद को सही ठहराता है और ना ही वर्तमान को एक पृथक सत्ता अर्थात् उसे, अतीत और संभाव्य भविष्य से विच्छिन्न मानता है। अर्थात् यथार्थवाद में वर्तमान केन्द्र में रहते हुए भी उसकी सम्पृक्ति अतीत से बनी रहती है, तथा यह भविष्य को भी भाषित करता है। रघुवीर सहाय इस संदर्भ में स्पष्ट कहते हैं—“ यथार्थ का कोई भी अनुभव आज के अतीत और आज के भविष्य से विच्छिन्न करके यथास्थितिवादी ही देख सकता है, क्योंकि समाज को बेहतर, न्यायपूर्ण और मानवीय बनाने के लिए जितना विध्वंस आवश्यक है, वह मानवीय मूल्यों के सहारे ही और उनके हेतु ही किया जा सकता है। उस विध्वंस के साधन यथास्थितिवादी के पास नहीं होते।”¹⁵ जिसका साफ तात्पर्य यथास्थितिवाद को नकाराने में दिखता है।

यहाँ इस प्रसंग में यह उल्लेख करना जरूरी लगता है कि ‘यथार्थवाद’ की अवधारणा को स्पष्ट करने के क्रम में कुछ विद्वान इसे एक तटस्थ तथा निरपेक्ष दृष्टि मान लेते हैं। डॉ. रामचंद्र वर्मा का इस संबंध में कहना है—“ यथार्थवाद में आदर्शों का ध्यान छोड़कर उसी रूप में कोई चीज या बात लोगों के सामने रखा जाता है जिस रूप में वह नित्य या प्रायः सबके सामने आती रहती है। इसमें कर्ता न तो अपनी ओर से टिप्पणी करता है न अपना दृष्टिकोण बतलाता है और निष्कर्ष निकालने का काम दर्शकों या पाठकों पर छोड़ देता है।”¹⁶ यहाँ, इस बात को भली-भाँति समझा जा सकता है कि वे वस्तु के स्वतंत्र एवम् ठोस अस्तित्व को प्रमुखता देना चाहते हैं। साथ ही साथ वे आदर्श से दूर हट कर वस्तु को सम्पूर्णता में देखने के आग्रह को भी महत्त्व प्रदान करते हैं। अर्थात् जो वस्तु जिस रूप में दिखायी देती है, उसी रूप में शब्दों के माध्यम से उसे इस प्रकार चित्रित करना चाहिए कि उसका रूप मूल रूप से भिन्न न गोचर हो। किंतु, ऐसा करने की प्रक्रिया वे तटस्थ तथा निरपेक्ष-पूर्ण मान लेते हैं। जबकि, वास्तविकता कुछ और ही है। ‘यथार्थवाद’ को एक निरपेक्ष दृष्टि मान लेने में उसकी शक्ति का कुंठित हो जाना स्वाभाविक हो जाता है। सच्चाई यह है कि जो कलाकार जितना यथार्थवादी होता है उतना ही प्रतिबद्ध और सम्पृक्त भी होता है। डॉ.

रमेश कुंतल मेघ के अनुसार यथार्थता कभी भी तटस्थ या असम्पृक्त नहीं हो सकती है। विशेषकर वर्गीय समाज में तो यह और भी जटिल तथा भ्रामक हो जाती है। अतः सामाजिक यथार्थता ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्ण सत्य का प्रदर्शन तथा असत्य का उन्मूलन करती है अर्थात् यह सत्य को अचल तथा तटस्थ न मानकर उसे इतिहास-प्रवाह में गतिमान तथा पर्यवेक्षक के ज्ञान के कारण पक्षधर मानती है।¹⁷ यहाँ यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि यथार्थवादी दृष्टि कलाकार की सत्य या यथार्थ के प्रति प्रतिबद्धता की माँग करती है। कलाकार यथार्थ की गति से सम्पृक्त रहता है। इसी अर्थ में, वह यथार्थ को यथातथ्य रूप में ग्रहण नहीं करता है, बल्कि उसके संभाव्य को भी झलकाता है। यथार्थवाद का वर्तमान इसी प्रकार अतीत और भविष्य से अपनी अविच्छिन्नता कायम करता है। लूकाच भी मानते हैं कि सामाजिक यथार्थ के चित्रण मात्र से ऊपर उठकर उस यथार्थ की आलोचना प्रस्तुत करने में ही लेखन की सार्थकता है, जिससे कि उसे यथार्थ के परे की संभावना को झलकाया जा सके। तभी तो इस संदर्भ में अलेक्जेंडर फायदेव अपनी पुस्तक 'सोशलिस्ट रियलिज़्म इन लिटरेचर एण्ड आर्ट' में कहते हैं कि – "यथार्थ मात्र वह नहीं है, जो हमारी समझ अथवा हमारे चारों ओर विद्यमान है। वह भी उतना ही जीवित यथार्थ है जो कि वर्तमान के गर्भ से उसकी ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक परिणति के रूप में सामने आता है।"¹⁸ जो स्पष्टतः 'यथार्थवाद' में भविष्य-दृष्टि के भाषित होने का बोध कराता है। किंतु, वह यथार्थ में प्रक्षेपित न होकर ऐतिहासिक बोध लिए हुए वर्तमान के गर्भ से निःसृत होता है।

इस प्रकार समग्रता में उपर्युक्त विचारणा से कई पहलू निकलते हैं, जो प्रमुखतया इस प्रकार हैं। 'यथार्थवाद' साहित्य, विशेषकर कथा-साहित्य के चित्रण को प्रभावी तथा वास्तविक बनाने वाली एक पद्धति विशेष होने के साथ-साथ एक प्रेरक सिद्धांत है, जो एक सौंदर्यशास्त्रीय प्रतिमान की तरह सम्पूर्ण साहित्यिक अनुशासन को अपना लक्ष्य बनाता है। यह वस्तु जगत् की सत्ता को महत्त्व देते हुए वर्तमान को केन्द्रीयता प्रदान करने वाली एक दृष्टि है, जो वास्तविकता को गतिशील रूप में अर्थात् उसको वर्तमान, अतीत और संभाव्य भविष्य की संश्लिष्टता में देखती है। यह अपने तर्क वास्तविकता को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने की संकल्पना के बावजूद भी यथास्थितिवाद का समर्थन नहीं करता है। यह एक प्रतिबद्ध दृष्टि है, जो वर्ग-संघर्ष हेतु जीवन-संघर्षी चरित्रों तथा स्थितियों को संश्लिष्टता में उकेरती है, ताकि जिसके माध्यम से परिवर्तनकारी संभाव्य को झलकाया जा सके। यह पश्चिम जगत् में 19 वीं सदी में एक प्रेरक कला-आंदोलन

के रूप में प्रतिष्ठित होने वाली एक महत्त्वपूर्ण दृष्टि है, जो समूचे विश्व साहित्य पर अपनी विशेष छाप छोड़ती है। यह एक गतिशील तथा सर्वांगपूर्ण जीवन-दृष्टि है, जो अपनी गतिमानता में समय-समय पर विभिन्न रूपों और शक्तियों में साहित्य के समक्ष अपनी उपस्थिति दर्ज करती है। अतः इस प्रकार यथार्थ तथा यथार्थवाद से सम्पूर्णता में परिचित होने हेतु उसके विभिन्न परिप्रेक्ष्य, विभिन्न रूपों पर विचार करना अति आवश्यक है।

1.2.2 दर्शन और साहित्य का परिप्रेक्ष्य

आधुनिक युग में विज्ञान की अधिकाधिक उन्नति ने दार्शनिक और साहित्यिक चिंतन में क्रांतिकारी परिवर्तन घटित किया है। इसी प्रक्रिया में 'यथार्थवाद' एक सर्वांगपूर्ण जीवन-दृष्टि तथा कला-दृष्टि के रूप में उभरा, जो आद्योगिक प्रगति एवम् दर्शन की प्रखर निष्पत्तियों से अनुप्रेरित तथा प्रतिफलित था। दार्शनिक धरातल पर समझा जाए तो यथार्थवाद के मूल में भाववाद या आदर्शवाद का विरोध काम कर रहा था- "आदर्शवाद का अंतिम चरण यथार्थवाद का प्रथम चरण था।... जनसाधारण ने आदर्शों की ओर से दृष्टि मोड़कर अपने ही समीप ओर प्रत्यक्ष में अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटनाओं को देखा।"¹⁹ जो मनुष्य के दृष्टि बोध के नए रूप को सूचित करता है। यह एक सच्चाई है कि सदियों मनुष्य ने जीवन को आदर्शवाद की ऐनक से देखने का प्रयास किया। उसे पाप-पुण्य की कसौटी पर कसा। परंतु अठाहरवीं शती तक आते-आते सभ्यता के सतत विकास ने मनुष्य को जीवन को बुद्धिपरक, वस्तुपरक तथा विवेकपूर्ण ढंग से देखने-समझने के लिए बाध्य कर दिया। जिसका नतीजा यह हुआ कि दर्शन और साहित्य दोनों ही क्षेत्रों में यथार्थवाद एक नवीन जीवन-दृष्टि या कला-आंदोलन साबित हुआ।

प्रथमतः साहित्य में यथार्थवाद की अवस्थिति एक 'वाद' अथवा कला-आंदोलन के रूप में न होकर चित्रण को अधिक पूर्ण, वातावरण को अधिक सजीव तथा रचनाशीलता को अधिक स्वाभाविक और सार्थक बनाने वाली एक सहज नैसर्गिक रुझान के रूप थी। किंतु, 19वीं शताब्दी के बाद स्थिति में परिवर्तन होता है। डॉ. शिवकुमार मिश्र इस संदर्भ में लिखते हैं- "19 वीं शताब्दी के मध्य बल्कि कुछ बाद को वह स्थिति सामने आयी, जबकि यथार्थ के प्रति इस स्वाभाविक अभिरुचि तथा निष्ठा ने एक दार्शनिक वैज्ञानिक आधार प्राप्त किया और एक वाद या आंदोलन के रूप में अपनी अभिव्यक्ति की।"²⁰ जो यथार्थवाद के उक्त अभिनव रूप (कला-

आंदोलन) को भली-भाँति प्रतीकित करता है।

ध्यातव्य है कि 'यथार्थवाद' का सम्बंध दर्शन और साहित्य दोनों से है; क्योंकि दोनों के केन्द्र में जीवन प्रमुख और विचारणीय रहा है। 'यथार्थवाद' इन दोनों ही क्षेत्रों में अपनी पैठ सशक्त ढंग से बनाते हुए उसमें आमूल-चूल परिवर्तन को संभव बनाता है। इस संदर्भ में डॉ. शिवकुमार मिश्र लिखते हैं—“बाह्य जगत् का हमारे मन अथवा हमारी इच्छा-अनिच्छा से परे एक ठोस वस्तुगत अस्तित्व है। साहित्य और कला का संबंध भी इसी बाह्य जगत् और उसके नानारूप व्यापारों से है। यथार्थवादी दर्शन और यथार्थवादी कला चिंतन दोनों का ही एक लंबा और सम्पन्न इतिहास है, जिसके क्रम में यथार्थवादी दर्शन और यथार्थवादी साहित्य चिंतन और कला के न केवल समय-समय पर अनेक पहलू उद्घाटित हुए हैं, एकदम नई मान्यताएँ भी सामने आती रही हैं।”²¹ जिससे यह बात उभर कर आती है कि 'यथार्थवाद' दर्शन और साहित्य में नई संभावनाओं को जन्म देने में सफल साबित होता है।

इस प्रसंग में यह उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं लगता है कि मनुष्य की बुद्धिपरकता तथा उसके जागृत विवेक ने ही उसे समस्त प्राणियों में श्रेष्ठ होने का दर्जा हासिल करवाया है। इसी बुद्धिपरकता की दम पर उसने प्रकृति के कई अनछुए पहलुओं को जाना है। सभ्यता के कई मिहिर द्वार खोले हैं। वाजिब भी है, कि जो कुछ विद्यमान है, अवस्थित है, उसकी सत्ता बुद्धि भला कैसे नकार सकती है। इसी प्रत्यक्षदर्शी बुद्धि ने 'यथार्थवाद' को जन्म दिया है। इसी कारण इसे एक स्वतःस्फूर्त होने वाला स्वभाव भी कहा गया है। 'वेसिस ऑव रीयलिज़्म' में पी.सी. अलेक्जेंडर ने इसी बात पर बल दिया है—“यथार्थवाद की प्रकृति वस्तु को पौरणिक ध्वंशावेषों से बाहर ले आता है।... एक ओर 'यथार्थवाद' भौतिक वस्तुओं को मन के द्वारा उन पर चढ़ा दिए गए रंग से मुक्त करता है तो दूसरी ओर उन्हें मन की भाँति अपने अस्तित्व का मौलिक दर्प भी दिखलाता है। इस तरह यथार्थवाद स्वाभाविक है।”²² इसी प्रत्यक्षदर्शी बुद्धि की ओर उन्मुख यथार्थवाद का आधुनिक परिप्रेक्ष्य मध्ययुगीन महान विचारकों के ईश्वर संबंधी धारणाओं, सामाजिक विश्वास के रूप में प्रतिष्ठापित अंधविश्वासों तथा विज्ञान की पूर्व संकल्पनाओं को खण्डित करने में सक्षम होता है।

थोड़ा अतीत में जाकर देखा जाय तो रेनेसां से पूर्व पश्चिम में चर्चों में पोप का अधिपत्य होता था। आम जनता ही नहीं, राष्ट्र को दिशा देने वाली राजनीति भी उसके गिरफ्त में रहती थी। बड़े-

से-बड़े अपराध, अत्याचार और पाप का निराकरण पोप द्वारा दिए गए शुद्धिपत्र खरीदकर कर लिया जाता था। किंतु, रेनेसां अर्थात् पुनर्जागरण काल में पूर्व स्थापित मान्यताओं को फिर से खंगाला जाता है। बदले में, नई मान्यताएँ निकल कर आती हैं। धर्म, राजनीति, समाज, व्यक्ति सभी पर वैज्ञानिक (बुद्धिपरक) तरीके से विचार किए जाने की पहल होती है। पोपवाद में निहित सड़ी-गली मान्यताओं का जमकर विरोध होता है। रेनेसां काल में एक वैज्ञानिक क्रांति का सूत्रपात होता है जिसकी चरम परिणति मार्क्सवाद में होती है। क्योंकि, मार्क्सवाद ने जिस भौतिकवाद की स्थापना की उसका यथार्थवाद से एक प्रत्यक्ष संबंध होता है। जॉन पैसमोर अपनी पुस्तक 'दर्शन के सौ वर्ष' में लिखते हैं— जे. डिण्टेल, टी. एच. हक्सले तथा डब्लू. के. किर्सफर्ड आदि प्रभृति लोगों ने विज्ञान को श्रमिक वर्ग तक पहुँचाया और विज्ञान के साथ ही ईश्वर संबंधी विधर्मि विचारों को भी, जो पहले बौद्धिक लोगों के सीमित दायरे में ही प्रचलित थे।... इस तरह विज्ञान तेजी से अपनी जड़े कायम कर रहा था।... जिनके कारण ईश्वर में विश्वास करना आवश्यक नहीं रह गया था।”²³ आगे चलकर दर्शन की यह भौतिकवादी निष्पत्ति मार्क्स और एंगेल्स की नितान्त भौतिकवादी जीवन-दृष्टि से सम्वेष्टित हो जाती है। इन्हीं निष्पत्तियों की बावत कालांतर में मार्क्सवाद (द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद) तथा यथार्थवाद एक-दूसरे के लिए सहयोगी सिद्ध होते हैं।

डॉ. प्रेमलता जैन का यह मत उक्त संदर्भ को भली-भाँति पुष्ट करता है— “मार्क्सवाद के सिद्धांत पूर्णतः यथार्थवादी हैं। यथार्थवाद और मार्क्सवाद एक-दूसरे के पूरक और सहयोगी सिद्ध होते हैं।”²⁴ संक्षेप में कहा जाए तो, 19वीं शताब्दी के अंत के बाद 'यथार्थवाद' दर्शन और साहित्य में एक ऐसे बौद्धिक गुण के रूप में अपनी स्थिति को प्रतिष्ठापित करने की ओर आगे बढ़ता है, जिससे हर कोई सम्पृक्त रहना चाहता है। पश्चिमी चिंतक हाकिन्स के विचार इस संदर्भ में देखने लायक हैं। अपनी पुस्तक 'दर्शन के प्रकार' में वे लिखते हैं— “आधुनिक काल की सीमा तक यथार्थवाद किसी बहुत्ववादी विश्व का एक प्रकार का अपरोक्ष, उन्मुक्त संक्षिप्त भोग (अनुभव) प्रतीत होता है, जिसकी विविधता में वही संतुष्टि मिलती है, जो शेक्सपीयर, तोल्सतोय अथवा विलियम जेम्स में उपलब्ध होती है। यह एक प्रकार का ऐसा बौद्धिक गुण है जिसके लिए कोई भी व्यक्ति स्वेच्छा से यह स्वीकार नहीं करेगा कि वह उससे विहीन है, और इस दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति यथार्थवादी है।”²⁵ जिसका साफ मतलब यह है कि आधुनिक काल में यथार्थवाद दर्शन और साहित्य के आगे अपनी विविधता तथा असीम संभावनाओं को प्रस्तुत कर देता है।

भारतीय दर्शन के परिप्रेक्ष्य में यदि यथार्थवाद की ही बात की जाए तो यह कहा जा सकता है कि यद्यपि इसकी प्रवृत्ति जीवन को यथार्थ रूप में देखने को मिलती है, किंतु यथार्थवाद के आधुनिक रूढ़ अर्थ के रूप में नहीं। भारतीय दार्शनिकों ने सांख्य, न्याय, वैशेषिक व्याकरण जैसे दर्शनों में बुद्धि विलास किया। उनका 'पूर्व मीमांसा'— कर्मकाण्डी दर्शन भी यथार्थवादी या अयथार्थवादी दर्शन में विभाजित या परिभाषित नहीं होता है। जैसे कोई वस्तु मन से पृथक रहकर भी अस्तित्व में रह सकती है। वैसे ही, मन से जुड़कर भी अस्तित्व में रह सकती है। विशेषिकों का पदार्थ का ज्ञान 'सिद्धांत', सांख्य का तंत्रमात्र और महाभूत का संबंध या व्याकरणशास्त्र का नाम आदि भेद इस बात का परिचायक है कि भारतीय दर्शनों में 'यथार्थवाद' जैसा प्रश्न ही मौजूद नहीं होता है। भारतीय दर्शन में जगत् की सत्ता और जगत् के ज्ञान का दृष्टिकोण यथार्थवादी होने के बावजूद भी भारतीय दर्शन मूलतः अध्यात्मवादी ही रहता है। वहाँ, यह प्रमुख बात देखने को मिलती है कि आत्मा ही चरम सत्य या उपलब्धि है। उसके प्राप्त करना ही जीवन का मूल ध्येय है। वहाँ, इस बात की मान्यता है कि जीवन दुःखमय है। किंतु इस दुःख का निवारण उनके यहाँ, यथार्थ की भूमि पर नहीं बल्कि अध्यात्म के धरातल पर ही है। वहाँ, दुःखों का कारण भी अविद्या या अज्ञान है, जो समस्त दुःखों को जन्म देती है। इसी दुःख को दूर करने हेतु स्वर्ग और तदुपरांत मोक्ष, मुक्ति या निर्वाण की कल्पना की जाती है, जो भारतीय दर्शन की वास्तविकता पर सवालिया निशान लगा देती है। सच बात तो यह है कि दुःख का निवारण भी वास्तविक भूमि पर ही संभव होता है। शारीरिक-कष्ट भी चिकित्सा से दूर होता है। अध्यात्मवाद से दुःखों का नाश होना दुर्लभ है। कहा जाए तो भारतीय दर्शन की अध्यात्मवादिता उसके यथार्थवादी रुझान को विपरीत दिशा में खींचता है।

अतः यह कहा जा सकता है कि यथार्थवाद का आधुनिक परिप्रेक्ष्य पश्चिमी चिंतन की देन है, जो विज्ञान की ओर उन्मुख मनुष्य की प्रत्यक्ष-दर्शी बुद्धि से अनुप्रेरित है। 19वीं शताब्दी के बाद से इसकी आधुनिक अवधारणा मार्क्सवाद के साथ जुड़कर और भी सशक्त बनती है, जो कला और दर्शन में असीम संभावनाओं को जगाती है। यह अवधारणा एक ऐसी स्वतःपूर्ण बौद्धिक गुण सम्पन्न दृष्टि के रूप में उभरती है, जिसकी जड़ में हर चेतनशील व्यक्तित्व आना चाहता है।

1.2.3. स्वरूप

यथार्थ तथा यथार्थवाद के साहित्यिक और दार्शनिक परिप्रेक्ष्य एवम् उसकी अवधारणा पर हुयी विचारणा और विश्लेषण के तदुपरांत यह कहना स्वाभाविक लगता है कि यह एक गतिशील जीवन-दृष्टि है, एक प्रेरक साहित्यिक सिद्धांत या प्रतिमान है। जिसने कला के क्षेत्र में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। इसकी गतिमानता को लाक्षित करते हुए ही डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है – “ कला क्षेत्र में यथार्थवाद ऐसी एक मानसिक प्रवृत्ति है जो निरंतर अवस्था के अनुरूप परिवर्तित और रूपायित होती रही है।”²⁶ जो इसके गतिमान स्वरूप पर प्रकाश डालता है। यथार्थवाद अपनी गतिमानता के अनुरूप ही विभिन्न अभिधानों में अभिहित होकर अपनी आधुनिक अवधारणा के विविध सोपानों को अभिव्यक्त करता रहा है। जिससे इसकी आधुनिक अवधारणा तथा उसके बदलते स्वरूप का विवेचन भी प्रासंगिक हो जाता है। यहाँ उसके विविध स्वरूप का विवेचन निम्नवत है:

1.2.3.1. सामाजिक यथार्थवाद

सामाजिक यथार्थवाद में समाज की यथार्थता को प्रमुख स्थान दिया जाता है। सामाजिक यथार्थवादी समाज की यथार्थता का ऐसा चित्रण करते हैं जिससे पाठक को समाज में घटित होने वाले विभिन्न कार्य-व्यापारों का ज्ञान सुगमतापूर्वक हो सके।

सामाजिक यथार्थवाद के संबंध में डॉ. त्रिभुवन सिंह लिखते हैं– “ समाज की वास्तविक अवस्था का यथार्थ चित्रण सामाजिक यथार्थवाद का प्रमुख लक्षण है। परंतु साहित्य में किसी भी वस्तु का तद्वत चित्र उतार कर रख देना श्रेष्ठ साहित्य के लिए हानिकारक होता है। साहित्यिक चित्र कैमरे द्वारा लिया गया चित्र नहीं होता है जिसमें साहित्यकार के अनुभव एवं कल्पना के सुन्दर रंग ढले होते हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि सामाजिक विषमताओं , भ्रष्टाचारों तथा वैयक्तिक स्वार्थों से आक्रांत -पीड़ित समाज की दयनीय परिस्थितियों को उसके वास्तविक रूप में समाज के सामने प्रस्तुत करना सामाजिक यथार्थवाद का प्रधान लक्ष्य है।”²⁷ ध्यान दिया जाय, तो यहाँ इस बात को भली-भाँति समझा जा सकता है कि सामाजिक यथार्थवादी समाज का यथावत् चित्र खींचना चाहता है। अर्थात् वे समाज में व्याप्त स्वार्थ, ईर्ष्या, घृणा, क्षुद्रता, कामुकता, विपन्नता दयनीयता, शोषण, पाशविक वृत्तियाँ, सामाजिक -आर्थिक वैषम्य, अंधविश्वास, कुसंस्कार एवम्

कुरीतियाँ आदि का एक तरफ चित्रण करता है तो दूसरी ओर इनके बरक्स स्नेह, सहानुभूति करुणा, प्रेम, परोपकार, त्याग आदि सद्वृत्तियों का अभिव्यंजन भी करना चाहता है। वह समाज के यथार्थ रूप का चित्रण करने के साथ-साथ मानवीय (रागात्मक) संबंध की व्यंजना भी जरूरी समझता है। किंतु, वह इन दोनों (मानव और समाज) संबंधों की जटिलताओं तथा अन्तर्द्वन्द्वों को उभार नहीं पाता है, क्योंकि उसके पास सामाजिक जीवन के वस्तुगत संदर्भों को आलोचनात्मक तरीके से देखने की दृष्टि का अभाव होता है। वह समाज के वस्तुगत संदर्भ का यथावत् रूप उतार देने में ही अपना लक्ष्य पूर्ण मान लेता है।

अतः यह कहा जा सकता है कि सामाजिक यथार्थवाद 'यथार्थवाद' से जुड़ा हुआ एक अहम रूप होता है। जहाँ, सामाजिक जीवन को यथावत् प्रस्तुत करने का संकल्प तो अवश्य रहता है, किंतु वहाँ आलोचनात्मक विवेक और वस्तुगत संदर्भों से संभाव्य झलकाने का विज्ञान नदारद रहता है। इस प्रकार सामाजिक यथार्थवाद 'यथार्थवाद' के एक अहम पहलू को प्रकाशित तो करता है, परंतु उक्त पहलू एक सर्वांगीड़ दृष्टि नहीं बन पाता है।

1.2.3.2 आदर्शोन्मुख यथार्थवाद

आदर्शवाद अंग्रेजी शब्द 'आइडियलिज्म' की तर्ज़ पर गढ़ा गया है। इसकी उत्पत्ति आइडिया (Idea) विचार से हुयी है। इस कारण भी यह विचारवाद के रूप में जाना जाता है। साहित्य में आदर्श शब्द का प्रयोग दर्शन और नीति की अपक्षेया वृहत्तर रूप में हुआ है, क्योंकि मानव समाज के लिए जो भी भव्य, महान और उदात्तपूर्ण हो सकता है, साहित्यकार उन सभी को साहित्य में निरूपित करने का प्रयत्न करता है। जार्ज इलियट इस संदर्भ में कहते हैं— " नैतिक एवं सौन्दर्यपरक मूल्यों की विषय निष्ठता तथा अपरिहार्यता को महत्व देने वाली साहित्यिक कृति अथवा साहित्यकार आदर्शवादी होता है।"²⁸ डॉ. भगीरथ मिश्र के अनुसार— " वह धारणा जिससे प्रेरित होकर साहित्यकार ऐसे चिन्ह अथवा ऐसी परिस्थितियों का चित्रण करता है, जो समाज के लिए अनुकरणीय है (यह आवश्यक नहीं कि वैसे चरित्र और परिस्थितियाँ सम्पूर्ण रूप में देखी और सुनी जाए) साहित्य में आदर्शवादी कहलाता है।"²⁹

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों को देखा जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य का आदर्शवाद मानव जीवन के आंतरिक पक्ष पर जोर देता है। और जब ऐसे आदर्शात्मक समाज की

प्रतिष्ठापना हेतु समकालीन समाज की यथार्थ अवस्था का दिग्दर्शन होता है तो उसे आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कहा जाता है।

प्रेमचंद भी अपने कथा साहित्य के परिप्रेक्ष्य में स्वयं को आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की ओर झुका हुआ मानते थे, क्योंकि उनकी नज़र में यथार्थवाद की अपनी सीमाएँ थीं-“यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है। और इस तरह यथार्थवाद हमको निराशवादी बना देता है, मानव चरित्र से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ बुराई नज़र आने लगती है।”³⁰ जिससे साफ समझा जा सकता है कि प्रेमचंद यथार्थवाद का अर्थ प्रकृतवाद समझ लेते हैं, जिसे यथार्थवाद का खंडित रूप समझा जाता है। इस प्रसंग में डॉ. सत्यकाम के निम्न विचार उल्लेखनीय हैं-“यदि हम प्रेमचंद की यथार्थ ‘संबंधी अवधारणा का विश्लेषण करें तो उसमें अनेक असंगतियों, चिंतन की अपरिपक्वता और तत्कालीन विश्व साहित्य में यथार्थवादी आंदोलन के विकास के प्रति प्रेमचंद का अपरिचय दिखाई पड़ेगा। वस्तुतः प्रेमचंद जिस ‘यथार्थवाद’ को इतना नापसंद करते हैं वह यथार्थवाद का एक विशेष रूप ‘प्रकृतिवाद’ या ‘नेचुरलिज़्म’ है, जिसे अनेक विचारक ‘यथार्थवाद’ की संज्ञा देना भी पसंद नहीं करता।”³¹ यही कारण है कि प्रेमचंद आदर्श की ओर उन्मुख यथार्थ चित्रण की दृष्टि की सराहना करते हैं-“आदर्श और यथार्थ की अति से ऊबकर मनुष्य आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की ओर मुड़ जाता है, जहाँ उसे एक प्रकार से आह्लाद मिलता है।...यह मानव स्वभाव है कि वह जिन छल-छद्मों तथा कुरूपपूर्ण परिस्थितियों से स्वयं घिरा रहता है, उसका बार-बार विवरण नहीं सुनना चाहता, वह थोड़ी देर के लिए संसार से जाना चाहता है, जहाँ उसके चित्त को कुत्सित भावों से नज़ात मिले, जहाँ उसे सज्जन, सहृदय, उदार प्राणियों के दर्शन हों, जहाँ छल और कपट, विरोध और वैमनस्य का प्रधान नहीं हो।”³² जिससे समझा जा सकता है कि यहाँ जिस आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का जिक्र किया गया है, उसके अन्तर्गत आदर्श और यथार्थ, एक-दूसरे की परस्परता तथा पूरकता में चित्रित किए जाते हैं। जब आदर्श के साथ यथार्थ की संगति मिलती है, उसका सामंजस्य होता है, और इन दोनों विरोधी प्रवृत्तियों के सामंजस्य से निःसृत एक तीसरा बोध या अनुभव प्रस्तुत किया जाता है, वही आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कहा जाता है।

प्रेमचंद आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के लिए कहते हैं "**Realism** (यथार्थवाद) यदि हमारी आँखें खोल देता है तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है।”³³ तात्पर्य

यह है कि आदर्शोन्मुख यथार्थवादी साहित्य में मानव हताश होते हुए भी आशावान दिखायी देता है। जीवन की आवश्यकताओं को दरकिनार कर अपने उज्ज्वल भविष्य को गढ़ने हेतु सदा कार्यरत दिखाई देता है। डॉ. त्रिभुवन सिंह भी इस प्रसंग में कहते हैं—“आदर्शोन्मुख यथार्थवाद मानव को दयनीय एवं कुरुपताओं से भरी हुई परिस्थितियों को वास्तविक कठोरता में चमकने वाला वह काल्पनिक आलोक है जिसके द्वारा जीवन से निराश परिस्थितियों की मार से घबराए हुए रास्ते में हताश मानव के अन्दर आशा और विश्वास का संचार हो जाता है। इसके द्वारा ही मानव समाज अपने जीवन की अनेक असफलताओं के बीच निरंतर संघर्ष पर भी निराश नहीं होता और भविष्य में जीवन की सफलता की बराबर कामना करता है।”³⁴ जिससे स्पष्ट समझा जा सकता है कि उपर्युक्त उद्धरणों में प्रयुक्त ‘मनोरम स्थान’ तथा ‘काल्पनिक आलोक’ जैसे शब्द आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की उस वास्तविकता की ओर इशारा करते हैं, जहाँ समाज में होने वाले वर्ग-संघर्ष, परिवर्तन कामी शक्तियों की पहचान तथा विषमता-पूर्ण समाज-व्यवस्था को बदलने वाली इच्छा शक्तियों के बरक्स अन्ततः सब कुछ स्वतः और स्वयं ठीक हो जाने की कल्पना, मनुष्य की सद्प्रवृत्तियों के अचानक जागृत हो जाने, उसके हृदय-परिवर्तन हो जाने जैसी भावनाओं आदि को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता है।

अतः यह कहा जा सकता है कि आदर्शोन्मुख यथार्थवाद में यथार्थ परिवेश, परिस्थिति तथा वस्तु का यथावत् चित्रण तो हो जाता है, किंतु वह एक जीवन-दृष्टि नहीं बन पाता है। दूसरे शब्दों में कहा जाए, तो वह जीवन में यथार्थ से पलायन करने वाला आदर्शवादी मूल्य बन जाता है। जिससे की यथार्थवाद की आधुनिक अवधारणा खंडित होती है।

1.2.3.3 प्रकृतवाद (प्रकृतवादी यथार्थवाद)

‘यथार्थवाद’ के विविध सोपानों में इसे भी अनुचित तरीके से शामिल कर लिया गया है, जबकि इसकी प्रवृत्ति ‘यथार्थवाद’ के तेज को निस्तेज करने वाली है। डॉ. सत्यकाम के अनुसार इसके उत्थान और उपरांत की कहानी कुछ इस प्रकार है—“ऐतिहासिक दृष्टि से ‘प्राकृतिकवाद’ का आंदोलन ‘यथार्थवाद’ के आंदोलन के बाद शुरू हुआ और इसी कारण कुछ लोग प्राकृतिकवाद को ‘यथार्थवाद’ का विकास मानते हैं। पर यह भ्रम है। क्योंकि एक तो जिस समय ‘प्राकृतिकवाद’ का थोड़ा जोर था उस समय ‘आलोचानात्मक यथार्थवाद’ की धारा अपने उत्कर्ष पर थी, दूसरे

‘प्राकृतिकवाद’ यथार्थवाद’ के एक गौण और सतही पक्ष का अनावश्यक और अतिशयोक्तिपूर्ण विस्फोट था, जो बाद में स्वयं अपनी मौत मर गया।”³⁵ स्पष्ट है कि प्रकृतवाद की प्रकृति ‘यथार्थवाद’ की जीवन-दृष्टि के मेल में न थी तथापि यह उसकी एक प्रवृत्ति या सोपान के रूप में प्रचलित हो गयी।

हिंदी में इस ‘नेचरलिज़्म’ को विविध अभिधानों से अभिहित किया गया—“ ‘प्रकृतवाद’ ‘प्रकृतवादी यथार्थवाद’, ‘प्राकृतिकवाद’, ‘निम्न यथार्थवाद’, ‘नग्न यथार्थवाद’ ‘तथ्यवाद’ आदि। प्रकृतवाद शब्द का साहित्य में प्रथम प्रयोग फ्रेंच उपन्यासकारों द्वारा किया गया था, जो अपने को फ्लाबेयर का शिष्य और उत्तराधिकारी मानते थे।”³⁶ यद्यपि इसको नेतृत्व प्रदान करने में ज़ोला और मोपासॉ का महत्त्वपूर्ण योगदान है, विशेष रूप से ज़ोला का—“यों प्राकृतिकवादी आंदोलन के पुरस्कर्ता एमिल ज़ोला माने जाते हैं पर स्पष्ट आंदोलन का रूप धारण करने के पूर्व यह विचारधारा छिटपुट रूप से उसके पूर्व से ही चली आ रही थी।”³⁷ ज़ोला शुद्ध शरीर शास्त्री और प्रकृतवादी होने का दावा करते थे। वे एक वैज्ञानिक की भाँति, जो कुछ है, उसे कहना और उसमें निहित कारणों की खोज करना अपना दायित्व और उद्देश्य समझते थे। उन्होंने सन् 1880 और 1881 के मध्य प्रकाशित अपने लेखों में प्रकृतवाद को स्पष्ट करने की कोशिश की है। उनकी यह मान्यता थी—“साहित्यकार का दायित्व है कि वह जीवन के यथातथ्यों को प्रस्तुत करे, चाहे वह तथ्य कितने ही कुरूप, वीभत्स, अश्लील, ग्लीज़ एवं गंदे क्यों न हों, मानवीय सत्य निरावृत्त सत्य होना चाहिए।”³⁸ जो इस तथ्य पर बल देना चाहती है कि मानव का निपट व्यक्ति सत्य ही सब कुछ होता है। जो यह भी मानती है कि मानव का अस्तित्व समाज में उसी भाँति निरावृत्त है, जिस प्रकार प्राकृतिक पशुओं का। उनकी मान्यता के अनुसार—“प्रकृतवाद उन परिस्थितियों एवम् वातावरण के अनुसार जन्मा था, जो व्यक्ति की पूर्णता एवं सत्ता निश्चित करती है। ...प्रकृतवादियों ने मनुष्य को उसके वातावरण में ज्यों का त्यों बिना कोई आवरण डाले या श्लीलता या अश्लीलता का ध्यान रखे या लज्जा एवं संकोच का महत्त्व समझे चित्रित कर दिया। प्रकृतवादियों ने वातावरण पर विशेष जोर दिया, इसलिए उन्होंने पात्रों के मनोविश्लेषण पर विशेष बल नहीं दिया।...मानव के प्रति इस प्रकार प्रकृतिवाद का विशेष दृष्टिकोण है, जो लज्जाहीनता, नग्नता, संकोचहीनता, अनैतिकता एवं अनाचार के साथ स्वतंत्र वासना को प्रश्रय देता है।”³⁹ जिससे यह स्पष्ट होता है कि उनका उद्देश्य यथार्थवाद को व्यक्तिवादी स्वभाव के अधीन बताना है। जहाँ, समाज गौण ठहराया जाता है तथा

व्यक्ति के आत्मिक विकास में ही उसकी पूर्णता देखी जाती है। और तो और व्यक्ति सत्य के नाम पर कुंठाजन्य निराशा का प्रतिपादन ही उसका प्रधान लक्ष्य समझा जाता है। यही नहीं, यह तो साहित्य जगत् की कथ्य एवं कथन संबंधी सभी पूर्व मानदण्डों एवम् धारणाओं को नकारता है। यह कथ्य के नाम पर मनुष्य की आदिम वासनाओं तथा उसकी कुत्सित चेष्टाओं के निरूपण पर विशेष ध्यान देता है। जिस कारण प्रकृतवादी साहित्य युग सत्य का वाहक बनने के बजाए मनुष्य मन की दमित वासनाओं का जीवित प्रतिबिम्ब बन जाता है।

‘यथार्थवाद’ की प्रकृति से ‘प्रकृतिवाद’ की समानता एवं भिन्नता को डॉ. सत्यकाम ने निम्नवत सुझाया है –“ध्यानपूर्वक देखें तो ‘प्रकृतिवाद’ ‘यथार्थवाद’ का विरोधी विचारधारा नहीं है। उसकी यह मान्यता कि जिस चीज का भी अस्तित्व है वह प्रकृति का अंग है और उसकी व्याख्या प्राकृतिक और भौतिक कारणों से की जा सकती है, अतिभौतिक आध्यात्मिक या इतर सामान्य कारणों से नहीं, यथार्थवाद में भी स्वीकृत है। ‘यथार्थवाद’ सामाजिक परिवेश के महत्त्व को भी स्वीकार करता है। ‘वस्तुतः ‘प्रकृतिवाद और यथार्थवाद का अन्तर यह है कि जहाँ ‘प्राकृतिकवाद’ अपने को मानव जीवन के सत्य के एक संकुचित और संकीर्ण पक्ष-जीवशास्त्रीय, आनुवांशिक और पारिवेशिक से जोड़कर अपना क्षेत्र सीमित कर लेता है, वहाँ यथार्थवाद मनुष्य के सम्पूर्ण भौतिक यथार्थ की रचानात्मक प्रस्तुति के प्रति समर्पित है।”⁴⁰ जिससे यह मालूम पड़ता है कि ‘प्राकृतिकवाद’ यथार्थवाद के खंडित सत्य का ही वाहक बन पाता है। यह अपनी सम्पूर्णता में ‘यथार्थवाद’ से कोसो दूर चला जाता है। ‘यथार्थवाद’ न तो आनुवांशिकता और प्राकृतिक परिवेश को नकारता है और ना ही उसे अतिरंजित महत्त्व प्रदान करता है। ‘यथार्थवाद’ में सामाजिक परिवेश के वैज्ञानिक तथ्यों के विवरण की जगह उसकी गहराई में, उसकी संश्लिष्टता में पैठने की कोशिश होती है। ‘प्रकृतिकवाद’ जहाँ मानवीय सत्य को अंतिम सत्य समझकर इसके बहाने मनुष्य के पशुवत या न्यूरोटिक स्वभावों के अश्लील निरूपण को प्रमुखता देता है, वहाँ यथार्थवाद समाज और व्यक्ति के जटिल द्वन्द्वात्मक संबंधों का निरीक्षण-परीक्षण करता हुआ उसका कलात्मक अभिव्यंजन करता है। ‘प्रकृतवाद’ अपनी सम्पूर्णता में ‘यथार्थवाद’ जैसी सृजनधर्मी जीवन-दृष्टि नहीं बन पाता है। यथार्थवाद की प्रकृति से कुछ समानता होने के कारण भले ही इसे इसके एक सोपान के अर्थ में ग्रहण कर लिया जाता है तथापि इसकी प्रवृत्ति ‘यथार्थवाद’ का स्खलन ही ज्यादा करती है— “वास्तव में प्रकृतवाद एक ऐसे प्रभात के समान है जो यथार्थवाद से कोसो दूर है और ऐसे कथाकार

का यथार्थ कला की सृजन-प्रक्रिया नहीं होती है।”⁴¹

अतः यह कहा जा सकता है कि ‘प्रकृतवाद’ यथार्थवाद की विभिन्न प्रावस्थाओं में चर्चा का एक कारण जरूर बनता है पर वह यथार्थवाद की सर्वांगपूर्ण दृष्टि को खंडित ही करता है।

1.2.3.4 आलोचनात्मक यथार्थवाद

आलोचनात्मकता यथार्थवाद की मूल प्रवृत्ति है। सत्यकाम लिखते हैं- “आलोचनात्मक यथार्थवाद’ पद के औचित्य के सम्बंध में कुछ आलोचकों को आपत्ति है। उनका कहना है कि ‘यथार्थवाद’ तो आलोचनात्मक होता है। आलोचनात्मक होना यथार्थवाद की मूल प्रवृत्ति है, फिर उसके पूर्व आलोचनात्मक पद के प्रयोग का क्या औचित्य है? यह कहना कुछ हद तक सही भी है। पर दिक्कत यह है कि यथार्थवाद आंदोलन की कई प्रावस्थाएँ रही हैं, जिन्होंने ‘यथार्थवाद’ पद के अर्थ को विस्तृत या संकुचित किया है।”⁴² जिससे जाहिर होता है कि आलोचनात्मकता ‘यथार्थवाद की मूल प्रवृत्ति है। यहाँ, यह भी साफ होता है कि यथार्थवाद की विभिन्न प्रावस्थाओं, उसके विविध सोपानों ने, उस पर अपना ऋणात्मक और धनात्मक दोनों प्रभाव डाला है। यहाँ आलोचनात्मक पद यथार्थवाद की दृष्टि को उन्हीं प्रावस्थाओं के मध्य अलग से विविचित करने का प्रयास करता है।

इस संदर्भ में डॉ. शिवकुमार मिश्र कहते हैं -“मैक्सिम गोर्की ने सन् 1934 में समाजवादी यथार्थवाद के नाम से यथार्थवादी कला आंदोलन में जिस नए यथार्थवाद का उद्घोष किया, जरूरी समझा गया कि उसे समाजवादी दृष्टिकोण से रहित प्रचलित यथार्थवाद (प्रकृतिवाद से भिन्न) से अलगाने के लिए, उसकी अपनी विशिष्ट पहचान बनाने के लिए...उसे आलोचनात्मक यथार्थवाद नाम दिया।”⁴³ सामान्यतः आलोचनात्मक यथार्थवाद से साहित्य में उस प्रवृत्ति का बोध होता है जिसमें समाज की जघन्य प्रवृत्तियों की विवेचना और आलोचना की जाती है। आलोचनात्मक यथार्थवादी रचनाकार केवल आलोचना के माध्यम से किसी आदर्श को स्थापित नहीं करता बल्कि जीवन की जिस कुत्सितता की आलोचना करते हुए यथार्थ चित्रण करता है, वह यथार्थवादी होता है और आलोचनात्मक भी। मैक्सिम गोर्की ने आलोचनात्मक यथार्थवाद को बुर्जुआ यथार्थवाद और क्रांतिकारी स्वच्छंदतावाद का भी नाम दिया और इसकी शक्तिमत्ता की भी सराहना की है। उनके अनुसार आलोचनात्मक यथार्थवादी लेखक दो प्रकार के होते हैं। प्रथम वे, जो पूँजीपति वर्ग हितों

से जुड़े हैं और उनके अंतर्विरोधों को चित्रण करते हुए भी उन्हीं का गौरवगान करते हैं। द्वितीय वे, जो अपने वर्गहितों और स्वार्थों का अतिक्रमण करते हुए अपने वर्ग की खरी आलोचना भी करते हैं। डॉ. सत्यकाम अपनी पुस्तक 'आलोचनात्मक यथार्थवाद और प्रेमचंद' की भूमिका में आलोचनात्मक यथार्थवाद को स्पष्ट करने की कोशिश की है। उनके अनुसार-'आलोचनात्मक यथार्थवाद' यथार्थवाद का वह रूप है जो इन्द्रियग्राह्य बोध को आधार मानकर व्यक्ति और समाज की वास्तविकताओं का उद्घाटन और विश्लेषण सौन्दर्यशास्त्री अनुभवों के रूप में करता है। वह जीवन की सच्चाईयों का तटस्थ अवलोकन भी करता है, पर 'प्राकृतिकवाद' की तरह अपने को इतने ही तक सीमित नहीं कर लेता। वह केवल समाज और व्यक्ति के जीवन के निम्न, ऋणात्मक, निंदनीय और गर्हित पक्षों को ही अपना चित्रणीय विषय नहीं बनाता, वरन् जीवन के उज्ज्वल और उदात्त पक्षों पर भी बल देता है। उसकी दृष्टि और पद्धति आलोचनात्मक होती है तथा वह केवल सतह पर तैरते हुए यथार्थ का चित्रण न कर उसकी गहराइयों में प्रवेश करता है और यथार्थ के भीतरी पर्तों को भेदकर सामाजिक सत्य का उद्घाटन करता है।⁴⁴ जिससे यह भली-भाँति स्पष्ट होता है कि आलोचनात्मकता 'यथार्थवाद' की एक अनिवार्य विशेषता है, जो यथार्थवाद' की आधुनिक अवधारणा को संपूर्णता में पकड़ने की कोशिश करती है।

आलोचनात्मक यथार्थवाद में व्यक्ति और समाज के सतही सत्यों के पार जाकर उसकी गहराई में छिपी संश्लिष्टता को उजागर करने की चेष्टा दिखती है। यह केवल व्यक्ति सच की एकांगिता तथा उसके निन्दनीय पक्षों पर जोर न देकर व्यक्ति और समाज के अन्तर्द्वन्द्वों की पहचान करता है। जिसके कारण ही आलोचनात्मक यथार्थवाद 'यथार्थवाद' की विभिन्न प्रावस्थाओं में काफी लोकप्रिय तथा ग्राह्य होता है। विशेषकर कथा-साहित्य को इसके माध्यम से एक शक्तिशाली रचना दृष्टि प्राप्त होता है। कार्ल मार्क्स के अभिमान में यह स्थापना मिलती है कि-"आलोचनात्मक यथार्थवाद के रचनाकारों ने पूँजीवादी समाज की असंगतियों का उद्घाटन करते हुए जीवन-संघर्षी चरित्रों की रचना की, समाज की निमर्म आलोचना पात्रों के माध्यम से की। इस कारण 'यथार्थवाद' के इतिहास में 'यथार्थवाद' की आलोचनात्मक विधा प्रचलित हुई।"⁴⁵ स्पष्ट है कि यथार्थ का यह आलोचनात्मक रूप यथार्थ को केवल पद्धति विशेष नहीं, बल्कि एक मजबूत रचना-दृष्टि का स्वरूप भी प्रदान करता है। किंतु, यह अपनी शक्ति, गरिमा और उपलब्धियों के बावजूद एक तथ्य पर आकर कमजोर पड़ जाता है। और वह है 'भविष्य की निर्मित का अभाव', जो संभावना सापेक्ष के

रूप में यथार्थ के गर्भ से निःसृत होता है। आलोचनात्मक यथार्थवाद अपने युग के यथार्थ का जीवंत और मार्मिक चित्रण करने के बावजूद भी अपने युग के जीवन पर अपना मौलिक पक्ष न रखकर विकृतियों के प्रति महज आलोचनात्मक दृष्टिकोण अपनाता है। इसी बिंदु पर आलोचनात्मक यथार्थवाद समाजवादी यथार्थवाद से अलग हो जाता है। यही कारण है कि समाजवादी यथार्थवादी रचनाकार आलोचनात्मक यथार्थवाद के लेखकों के भविष्य बोध के प्रति सकारात्मक रूख की कमी पाकर इसकी संभावनाओं तथा विरासत पर प्रश्न उठाते हैं—“नई वास्तविकताओं को कलात्मक अभिव्यक्ति देने के लिए पॉजिटिव सक्रिय तथा रचनात्मक दृष्टिकोण की आवश्यकता है, उसका आलोचनात्मक यथार्थवाद में सर्वथा अभाव है, अतएव विरासत के रूप में संभव नहीं है।”⁴⁶ पर इन सबके बावजूद, यथार्थवादी लेखक इसकी अपरिहार्यता को स्वीकार कर ही अपनी सृजनात्मकता को कलात्मक एवम् प्रभावी बनाने में सक्षम महसूस करता है। अतः कहने का आभिप्राय यही निकलता है कि इसकी शक्ति को साथ लेकर ही यथार्थ के पथ पर प्रशस्त हुआ जा सकता है। यथार्थवादी लेखक लूकाच भी समाजवादी यथार्थवाद के साथ इसकी संधि की कामना में ही ‘यथार्थवाद’ का उज्ज्वल भविष्य देखते हैं—“लूकाच ने सही ही कहा है कि यथार्थवादी कला का भविष्य आलोचनात्मक ‘यथार्थवाद’ की कलागत उपलब्धियों तथा प्रकृति से ‘समाजवादी यथार्थवाद’ के विरोध में नहीं, दोनों की गहरी संधि में उज्ज्वल होगा।”⁴⁷

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आलोचनात्मक यथार्थवाद ‘यथार्थवाद’ कला आंदोलन तथा इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण सोपान सिद्ध होता है। इसका मूल धर्म- यथार्थ के प्रति आलोचनात्मक रवैया-यथार्थवाद का भी अनिवार्य गुण-धर्म कहलाता है। यह ‘यथार्थवाद’ की अन्य प्रावस्थाओं की तरह एकांगी पक्ष पर जोर न देकर यथार्थ को सम्पूर्णता में पहचानने और उसकी संश्लिष्ट अभिव्यक्ति करने की हिमायत करता है। यह व्यक्ति और समाज के जटिल संबंधों तथा उनके अंतर्द्वन्द्वों का कलात्मक अंकन करने की चेष्टा करता है। कथा-साहित्य तो विशेषकर इसकी उपलब्धियों को अपनाकर ही सृजनधर्मी होना चाहता है। संक्षेप में, कहा जाए तो यह ‘यथार्थवाद’ की दृष्टि को संपूर्णता में पकड़ने की कोशिश करता है।

1.2.3.5 ऐतिहासिक यथार्थवाद

‘यथार्थवाद’ के विविध सोपानों में ऐतिहासिक यथार्थवाद की भी चर्चा मिलती है।

‘यथार्थवाद’ के आगे ऐतिहासिक पद का योग इस बात को संकेतित करता है कि इसमें वर्तमान को इतिहास प्रवाह की अविच्छिन्नता में ग्रहण किया जाता है। ‘यथार्थवाद’ में वर्तमान भले ही केन्द्रीयता प्राप्त करता है तथापि इसकी सम्पृक्तता अतीत से बनी रहती है। और वह भी साभिप्राय। ‘ऐतिहासिक ‘यथार्थवाद’ का मूल विषय ऐतिहासिक घटनाओं से संबंधित होता है, जिसमें यथार्थ को कलागत सीमाओं के आधार पर प्रस्तुत किया जाता है। इसमें लेखक या रचनाकार अपने व्यक्तिगत जीवनानुभवों तथा अपनी कल्पना शक्ति द्वारा अतीत कालीन वातावरण का रंग चढ़ाकर घटनाओं को ऐतिहासिक धरातल पर बड़ी विश्वसनीयता के साथ प्रस्तुत करता है तथा ऐतिहासिक संगति की रक्षा (उसे अक्षुण्ण रखते हुए) अतीत को वर्तमान के हित में चित्रित करता है।

डॉ. त्रिभुवन सिंह इस संदर्भ में लिखते हैं—“ऐतिहासिक ‘यथार्थवाद’ के अन्दर बीते हुए काल की सामाजिक एवम राष्ट्रीय परिस्थितियों का वास्तविक चित्रण उपस्थित किया जाता है। परंतु इतिहास और ऐतिहासिक ‘यथार्थवाद’ एक-दूसरे के लिए प्रयुक्त किए गए शब्द नहीं हैं। बल्कि दोनों में अन्तर है। इतिहास तिथियों, घटनाओं तथा परिणाम का ठीक-ठीक वर्णन उपस्थित करता है। ऐतिहासिक यथार्थवाद के अर्न्तगत स्थितियों तथा घटनाओं की सहायता पर इतना अधिक जोर नहीं दिया जाता, इससे अधिक उस समय की सामाजिक एवं राष्ट्रीय तथा धार्मिक परिस्थितियों को उभारकर रखने के प्रति आग्रह दिखलाया जाता है। इसका एकमात्र कारण यह है कि ऐतिहासिक यथार्थवाद की धारणा साभिप्राय होती है। इसके द्वारा साहित्यकारों को ऐसे चरित्रों का निर्माण करना पड़ता है कि जो वर्तमान समाज को प्रेरणा प्रदान कर सके तथा उस समय की परिस्थितियों को इस प्रकार उभारकर सजीव रूप में रखना चाहता है कि जिससे परिणाम के आधार पर हम वर्तमान समाज की उसके दोषों तथा दुर्बलताओं से बचा सकें।”⁴⁸ जिससे निम्न बातें स्पष्ट होती हैं। ऐतिहासिक यथार्थवाद में इतिहास की मूल चेतना या दृष्टि को आत्मसात कर यथार्थ के वर्तमान पहलू को साभिप्राय देखा जाता है। तथापि इसका इतिहास से अंतर होता है। यहाँ, इतिहास की तरह ऊपरी तथ्यों, तिथियों या घटनाओं को सटीक ढंग से उल्लेख करने के बजाय इसकी तह में जाकर उसकी संश्लिष्टता को उभारा जाता है। यहाँ, अतीत के प्रेरणादायी चरित्रों और घटनाओं को वर्तमान को सहेजने या उसे दुरुस्त करने की मंशा से महत्त्व प्रदान किया जाता है।

किंतु, जैसा कि हर बीते हुए युग या समय की अपनी कुछ विशिष्टताएँ होती हैं। और हर बीते हुए युग की राष्ट्रीय सामाजिक और धार्मिक परिवेश की पहचान उस युग के वर्तमान को ही

आलोकित करता है जिसका कि ऐतिहासिक यथार्थवाद भी समर्थन करता है। तथापि यहाँ ऐतिहासिकता के प्रति स्पष्ट ईमानदार तथा पूर्वाग्रहविहीन दृष्टि की आवश्यकता होती है ताकि ऐतिहासिकता को अक्षुण्ण रखा जा सके। अतः ऐतिहासिक यथार्थवाद में वर्तमान के संदर्भ में इतिहास को ग्रहण करने के प्रति एक विशेष सावधानी अपेक्षित होता है। इस संदर्भ में डॉ. त्रिभुवन सिंह भी लिखते हैं- ऐतिहासिक यथार्थ की एकमात्र कसौटी है, लेखक की निष्पक्ष दृष्टि का होना। यदि लेखक ऐतिहासिक यथार्थ का चित्रण करते समय अपने वैयक्तिक आग्रहों से ऊपर नहीं उठ पाता है तो उसकी रचना में विकार होना स्वाभाविक है।⁴⁹ ध्यातव्य है कि यहाँ निष्पक्षता इतिहास के प्रति पूर्वाग्रह विहीन दृष्टिकोण को ही व्यक्ता करता है, जिस कारण ऐतिहासिकता अक्षुण्ण रहती है।

इस प्रकार 'ऐतिहासिक यथार्थवाद' की आधारशिला लेखक की कल्पनाशीलता उसके स्पष्ट वैज्ञानिक इतिहास बोध तथा पूर्वाग्रह विहीन कलात्मक प्रतिभा के सम्यक संतुलन पर ही खड़ी होती है। इस संतुलन के डिगने से 'यथार्थवाद की दृष्टि खंडित हो जाती है। संक्षेप में, कहा जाए तो, यह अपने संतुलित तथा संयत रूप में 'यथार्थवाद' को एक सर्वांगीण दृष्टि के रूप में विकसित होने में अपना धनात्मक योग देता है, किन्तु अपने असंतुलन में 'यथार्थवाद' की मूल प्रेरणा को गुमराह भी कर देता है।

1.2.3.6 मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद

'मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद' में ज़ाहिरा तौर पर मनोविज्ञान को प्रमुख माना जाता है। पाश्चात्य विद्वान युंग इस संबंध में कहते हैं- "मनोविज्ञान मानव की मानसिक क्रिया के अध्ययन का प्रमुख साधन है। मानव मन सभी प्रकार के विज्ञान और कला का आगार होता है। वह एक ओर सृजन की व्याख्या करता है तो दूसरी ओर इसके मूलभूत कारणों पर प्रकाश डालता है।"⁵⁰ मनोविज्ञान के इसी प्रकाश को अपना आधार मानकर मनोवैज्ञानिक, यथार्थवादी साहित्य में अपनी सृजनधर्मिता का निर्वहन करने का प्रयास करता है।

यहाँ, यह उल्लेख करना अति आवश्यक प्रतीत होता है कि जहाँ यथार्थवाद, मनुष्य के बाह्य एवं अन्तर दोनों ही सत्ताओं के सम्मिलित चित्रण को अपना लक्ष्य बनाता है, वहाँ "मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद" यद्यपि बाह्य जगत की सत्ता को अस्वीकार नहीं करता तथापि मानवीय

अन्तर्जगत उसकी बौद्धिकता एवं भावनात्मकता को ही अधिक बल प्रदान करता है। वह व्यक्ति चेतना की गहनता की माप एवं चेतन मन के आधारभूत उपचेतन एवं अवचेतन मन का रहस्योद्घाटन करता है।⁵¹ क्योंकि, उसकी यह मान्यता है कि मानवीय उपचेतन एवं अवचेतन मन चेतन मन की अपेक्षा ज्यादा शक्तिशाली और महत्त्वपूर्ण होते हैं। जिन्हें समझना- समझाना या उनका कलात्मक अभिव्यंजन करना मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी के लिए 'यथार्थ' को सम्पूर्णता में पकड़ने या समझने का प्रयास मालूम पड़ता है। किंतु, वे व्यक्ति के सच के बहाने एक नकार एवं निराशा के भाव को प्रश्रय देते हैं। डॉ. सुरेश सिन्हा इस संदर्भ को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—“यह मनुष्य की परिकल्पना व्यक्ति रूप में करके उपचेतन और अचेतन मन की जटिल एवं विषम ग्रंथियों को सुलझाने का कार्य करता है, पर इससे सबसे बड़ी हानि यह हुई कि मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद ने मानव को अर्द्ध-विक्षिप्त, कामलोलुप और मानसिक विकारों से ग्रस्त रोगी के रूप में परिणत कर दिया और जीवन के अशोभन एवं अवांछनीय तत्त्वों के चित्रण पर बल दिया जाने लगा।⁵² जो यह दर्शाता है कि मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद आत्मान्वेषण तथा आत्मपोलखि के बहाने मनुष्य के आत्मतत्त्व को पूर्व निश्चित, पशुधर्मी और अनिवार्यतः विकृत प्रवृत्तियों से परिपूर्ण मानकर मनुष्य के अत्यंत घृणास्पद चित्र उकेरता है, जो यथार्थ या यथार्थवाद की दृष्टि को खंडित कर देता है।

अतः इस प्रकार 'मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद' न तो यथार्थ के सर्वांगीण रूप को प्रस्तुत करता है और ना ही मनुष्य की सम्पूर्ण अवधारणा को प्रकाशित करता है। यह अवचेतन, उपचेतन मन के बहाने मनुष्य के अस्वस्थ तथा खंडित स्वरूप को ही परोसने का कार्य करता है। हाँ, इस संदर्भ में यह कहना प्रासांगिक लगता है कि आधुनिक मनुष्य स्वयं में पूर्ण नहीं है। उसमें भी वासना, पाप, घृणा और अविश्वास की भावनाएँ हैं। इस सत्य से कोई भी साहित्य मुँह नहीं मोड़ सकता है। यथार्थवादी साहित्य भी नहीं। किंतु, मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी साहित्य यथार्थ के रूप में मनुष्य की अन्य इच्छाओं तथा उसके अपने बाह्य जगत् के साथ संश्लिष्ट संबंधों को छोड़ मात्र काम इच्छाओं एवं उनके हनन से जन्म लेने वाले दुष्परिणामों का रसमय चित्रण करता है, जो यथार्थवादी साहित्य को कामशास्त्र की रचना बना डालता है। यह यथार्थवाद की दृष्टि के लिए अवांछनीय सिद्ध होता है। सारतः कहा जाए तो यह यथार्थवाद रूपी सर्वांगीण दृष्टि के एकपक्षीय पहलू का खंडित रूप ही व्यक्त करता है।

1.2.3.7 अतियथार्थवाद

‘अतियथार्थवाद’ अंग्रेजी के सुर्रियलिज्म का हिंदी पर्याय है। साहित्य और कला के क्षेत्र में, एक आंदोलन के रूप में इसका जन्म प्रथम विश्वयुद्धोत्तर फ्रांस में हुआ। प्रथम विश्व-युद्ध के भीषण नर-संहार एवं आर्थिक ह्रास ने यूरोपीय समाज को अव्यवस्था, अराजकता, विवेकशून्यता तथा नकार भावना से परिपूर्ण कर दिया था। जिसका प्रतिफलन यह हुआ कि कला एवं साहित्य की ओर रुझान रखने वाले लोग कठोर यथार्थ के आघातों से निराश होकर अवचेतन मन की रहस्यमय गुफाओं में सैर करने लगे, और धर्म, समाज, कला एवम् साहित्य की पूर्वमान्यताओं को प्रश्नों के कठघरे में खड़ा करने लगे।

अतियथार्थवादी आंदोलन की पृष्ठभूमि में फ्रायड की अचेतन मन संबंधी धारणा, हीगेल का समन्वयवादी चिंतन, मार्क्स चिंतन आधारित तत्कालीन अर्थव्यवस्था के खोखलेपन के प्रति वितृष्णा आदि अवधारणाओं ने प्रर्याप्त प्रभाव डाला है। इस पर फ्रायड के दर्शन का विशेष प्रभाव पड़ा है। डॉ. सुरेश सिन्हा इस संदर्भ में लिखते हैं—“फ्रायड के अनुसार चेतना के स्पंदन गंभीर कामनाओं के रूप में प्रस्फुटित होते हैं और कुंठाजन्य परिस्थितियाँ, पीड़ाएँ, असंतोष एवं अतृप्त वासनाएँ उन्माद के रूप में परिणत हो जाती हैं, जिससे एक नए वाद का जन्म होता है, जो ‘अतियथार्थवाद’ है।”⁵³ जिससे इसके नकारवादी पहलू को समझा जा सकता है। इस नकार प्रवृत्ति को विकसित करने में ‘दादावाद’ की प्रमुख भूमिका रही है। डॉ. सत्यदेव मिश्र इस संदर्भ में लिखते हैं—“अतियथार्थवाद दादावाद से सर्वाधिक प्रभावित था। किन्हीं अर्थों में दादावाद अतियथार्थवाद का जनक है। दादावाद (1916) ट्रिस्टन जारा (**Tristan tzare**) के द्वारा प्रवर्तित ऐसा आंदोलन था... आंदोलन का प्रमुख उद्देश्य सभी प्रकार के नैतिक एवम् कलात्मक मूल्यों और प्रतिमानों को विध्वंस करना था।”⁵⁴ वे आगे कहते हैं...“अतियथार्थवाद की परिभाषा देते हुए इस शब्द का वर्तमान अर्थ में प्रयोग सबसे पहले फ्रांसीसी साहित्यकार आंद्रे ब्रेतां ने 1924 में अपने घोषणापत्र मैनिफेस्टो आन सुर्रियलिज्म में किया।”⁵⁵

अतियथार्थवाद को एक कला आंदोलन के रूप में विकसित करने में आंद्रेब्रेतां का पहला और दूसरा घोषणापत्र काफी महत्त्वपूर्ण रहा है, जहाँ उन्होंने मानव मन की विमुक्ति को क्रांतिकारी साहित्य से जोड़ने के प्रयास किए। उन्होंने इसके उद्देश्य को भी काफी हद तक स्पष्ट करने की

कोशिश की। आन्द्रेबेतां ने इसके उद्देश्य को निम्न शब्दों में स्पष्ट किया है“ ...अतियथार्थवाद का उद्देश्य मानव-मन की किसी भी प्रकार के बंधन से विमुक्ति दिलाना तथा आंतरिक और बाह्य सत्य को एकाकार करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए, अतियथार्थवादी चेतन-अचेतन विवेकपूर्ण एवं विवेकहीन दोनों का संबद्ध असंबद्ध वर्णन प्रस्तुत करते हैं। उनकी धारणा है कि अचेतन मन की वास्तविक स्थितियों का उद्घाटन एवं विश्लेषण तथा मानव-मन की विवेक के बंधन से विमुक्ति इसी प्रकार संभव है।”⁵⁶ जिसका साफ अर्थ यह होता है कि अतियथार्थवादी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर पूरा बल देते हैं। वे मनुष्य की स्वतंत्रता में विश्वास रखते हैं और अपने पूर्ण सामर्थ्य से इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु प्रयत्न करते हैं। यहाँ तक कि इसके समर्थन में मनुष्य के अचेतन मन की विवेकहीन, हिंसात्मक एवम् न्यूरोटिक प्रवृत्तियों को भी प्रश्रय देते हैं। कहने का तात्पर्य यही है कि जो सामान्य जगह से परे जगत् है, वही अधिक यथार्थ है, उसका रूपायन ही कलाकार का दायित्व है। यही वजह है कि अतियथार्थवादी स्वप्नों, विभ्रमों, अर्धजाग्रत अवस्थाओं की खोजबीन में अधिक प्रयत्नशील रहते हैं। डॉ. सत्यदेव मिश्र लिखते हैं-“अतियथार्थवादी साहित्य के प्रमुख विषय प्रेम, (Love) विद्रोह, (Revolt) अद्भुत (The marvellous) और स्वातंत्र्य (Freedom) हैं।”⁵⁷ किंतु अतियथार्थवादी लेखक प्रेम के नाम पर स्त्री-प्रेम के रत्यामत्क तथा कामोद्दीपक पक्ष को ही उठाते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो उनकी प्रेम-स्वच्छंदता यौन-लिप्साओं के खुले तथा अविवेकपूर्ण चित्रण में गोते लगाती हैं। वे विद्रोह की आड़ में विवेक-अविवेक के प्रश्न को दरकिनार करते हुए समाज, धर्म, नीति आदि संबंधी सभी पूर्वमान्यताओं तथा परंपराओं को विध्वंस कर देना श्रेयस्कर समझते हैं। इसी विद्रोह तथा स्वतंत्रता के नाम पर वह सभी पूर्व मान्यताओं को खारिज कर दैनंदिन व्यवहारपरक जीवन में नवीन मूल्य एवं मान्यताओं की खोज तथा प्रतिष्ठा करना चाहते हैं। यही उनकी अद्भुत अथवा विलक्षण की खोज है। वे जीवन को असंगतियों का पुंज मानते हैं। उनके लिए“ ...असंगति ही मानव-मन अथवा जीवन का असली यथार्थ है (Absurdity of mind is the super reality)। जीवन की इन असंगतियों के चित्रण के लिए यह आवश्यक है कि अवचेतन मन की मुक्त अभिव्यक्ति हो सके और अनुभूति को यथावत् प्रस्तुत किया जा सके।”⁶⁸ जिसका तात्पर्य जीवन की असंगतियों, बेहुदगियों एवं विदूषताओं को यथार्थ और साहित्य के नाम पर परोसने से होता है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अतियथार्थवाद अपने नाम से यथार्थवाद के चरम

रूप का भ्रम उत्पन्न करने के बावजूद यथार्थवाद से पूर्णतः भिन्न धरातल पर खड़ा दिखायी देता है। जहाँ, यथार्थवाद मानव तथा समाज की संश्लिष्टता को प्रधानता देता है, वहाँ अतियथार्थवाद मानवजीवन और समाज के कठोर यथार्थ से पलायन कर मानव मन से अचेतन रूप को तरजीह देता हुआ मनुष्य की मुक्ति तथा स्वतंत्रता का परचम लहराता है। एक विशेष परिस्थिति में जन्मा यह अतियथार्थवाद अपने साथ एक नकार प्रवृत्ति को आत्मसात किए हुए रहता है। जो साहित्य में नकारात्मक यथास्थितिवाद को प्रश्रय देता है। जो यथार्थवाद की मूल-भावना से भिन्न ठहरता है। यथार्थवाद, जहाँ मानव जीवन को सम्पूर्णता में देखते हुए समाज के संदर्भ में उसका अस्तित्व निर्धारण करता है, वहाँ अतियथार्थवाद मानव जीवन के खंडित पक्ष को ही अधिक या अति यथार्थ मानता है। संक्षेप में, कहा जाए तो अतियथार्थवाद लेखक या रचनाकार को सृजनात्मक दृष्टि प्रदान करने के बजाए उसे अधिक गुमराह ही करता है।

1.2.3.8 समाजवादी यथार्थवाद

समाजवादी यथार्थवाद 'यथार्थवाद' की अपनी लंबी यात्रा में तथा उसके विभिन्न स्वरूपों या प्रावस्थाओं में एक नव्यतम एवम् महत्त्वपूर्ण पड़ाव है। इसके मूल में मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन की विकासमूलक विचारधारा निहित है, जो द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में विश्वास रखती है। तभी तो, इसे मार्क्सवादी साहित्य चिंतन में सर्वोच्च साहित्यिक एवं कलात्मक प्रतिमान के रूप में स्वीकार किया जाता है। मार्क्सवादी दर्शन से जुड़ कर 'समाजवादी यथार्थवाद' निखरे हुए रूप में उभर कर आता है। डॉ. प्रेमलता जैन के ये शब्द उक्त बात की पुष्टि करते हैं—“मार्क्सवाद एक आशावादी दर्शन है, जो वैज्ञानिक सत्यों पर खड़ा है। मार्क्सवादी दर्शन से पुष्ट 'समाजवादी यथार्थवाद' यथार्थवादी आंदोलन के विकास की नव्यतम मंजिल है।”⁵⁹

उल्लेखनीय है कि सबसे पहले मैक्सिम गोर्की ने 'समाजवादी यथार्थवाद' शब्द का प्रयोग किया। सोवियत लेखकों की पहली, कांग्रेस में मैक्सिम गोर्की ने इसकी रूपरेखा स्पष्ट की। तब से लेकर अब तक की सुदीर्घ चर्चा में इसे अनेक कोणों से देखा और परखा गया। इस चर्चा के क्रम में ही यह बात निकल कर आती है कि भले समाजवाद या साम्यवाद से 'समाजवादी यथार्थवाद' को अलग नहीं माना जा सकता है, परंतु दलीय भूमिका एवं राजनीतिक कट्टरता में ही उसे सीमित न कर एक कला-दृष्टि के रूप में उसे पहचानने और प्रस्तुत करने की जरूरत है।

‘समाजवादी यथार्थवाद’ की अवधारणा में जार्ज लूकाच तथा अन्य मार्क्सवादी चिंतकों की व्याख्याओं में अवश्य अंतर देखा जाता है। किंतु, कुल मिलाकर समाजवादी यथार्थवादी की उसी अवधारणा को उसका प्रमाणिक स्वरूप स्वीकार किया जाता है, जिसके पुरस्कर्ता जार्ज लूकाच तथा मैक्सिम गोर्की आदि प्रभृति चिंतक हैं।

समाजवादी यथार्थवाद का मूल आग्रह वस्तुगत यथार्थ का समाजवादी समझ की अनुकूलता में चित्रण करने से होता है। डॉ. शिवकुमार मिश्र इस संदर्भ में लिखते हैं—“समाजवादी यथार्थवाद का आग्रह है कि लेखक वस्तुगत यथार्थ को उसकी सम्पूर्णता में उभारकर प्रस्तुत करे। विरोधी शक्तियों के बीच चलने वाले संघर्ष को जितनी ही विशदता, सजीवता तथा तीव्रता के साथ वह चित्रित करेगा, उस संघर्ष को जितने ही आयामों में वह देखेगा, उसकी कला भी उतनी शक्ति सम्पन्न होगी। उसका कार्य जड़ यथार्थ को नहीं क्रांतिकारी विकास की भूमिका में बदलते हुए यथार्थ को इस प्रकार मूर्त करना है कि वह शक्ति जो प्रगति की विधायिका शक्ति है, अपनी सारी क्षमताओं के साफ और ठोस रूप में सामने आ सके।”⁶⁰ जिसका तात्पर्य यह है कि समाजवादी यथार्थवाद मनुष्य, समाज तथा उसके जीवन-यथार्थ को सम्पूर्णता में देखने की हिमायत करता है। यह वर्ग-संघर्ष एवं क्रांति में अपनी आस्था कायम रखता है। यह लेखक या कलाकार से उस ऐतिहासिक समझ की भी अपेक्षा करता है, जो उसे वर्ग-संघर्ष को सामाजिक संबंधों की संश्लिष्टता में देखने और पहचानने में मदद करती है। जो उसे भविष्य की रचनात्मक शक्तियों की पहचान करते हुए परिवर्तन कामी स्वर को बुलंद करने हेतु आग्रही भी बनाती है।

‘समाजवादी यथार्थवाद’ यथार्थवाद की विभिन्न प्रावस्थाओं से उसका सार तत्त्व ग्रहण करते हुए यथार्थवाद के सर्वांग रूप का परिचय देता है। शैली और चित्रण के धरातल पर ‘समाजवादी यथार्थवाद’ आलोचनात्मक यथार्थवाद की उपलब्धियों को स्वीकार करता है। किंतु, कथ्य के स्तर पर वह उससे अत्यंत आगे निकल जाता है। गौरतलब है कि ‘आलोचनात्मक यथार्थवाद’ समाजवादी यथार्थवाद से घनिष्ठ रूप में सम्पृक्त रहता है। अधिकतर समाजवादी मानते हैं कि ‘आलोचनात्मक यथार्थवाद’ में स्वाभाविक रूप से धीरे-धीरे समाजवादी प्रवृत्तियाँ प्रवेश करती जाती हैं। शिवकुमार मिश्र इस संदर्भ में लूकाच के हवाले से कहते हैं—“आलोचनात्मक यथार्थवाद के लेखक समाजवादी समाज की स्थापना के साथ एकदम रूपांतरित न हो जाएँगे, वरन यथार्थ के विकासशील आयामों की संगति में, शनैः-शनैः अपने मानस में नये संस्कारों की प्रतिष्ठा

करेंगे।...‘आलोचनात्मक यथार्थवाद’ भी चूंकि सत्य का आग्रही है, और वस्तुगत यथार्थ को ही केन्द्रीयता प्रदान करता है, अतः जैसे-जैसे समाजवादी समाज में यथार्थ का रूपांतरण होता जाएगा समाजवाद अपनी संभावनाओं को साकार करता हुआ मूर्त होने लगेगा। आलोचनात्मक यथार्थवाद के लिए जरूरी हो जाएगा कि वह इस समाजवादी वास्तविकता का रूपायन करे।...‘आलोचनात्मक यथार्थवाद’ के लेखक भी इस प्रकार समाजवाद के निकट आते जाएँगे और एक क्षण वह आयेगा जब नये समाजवादी समाज में नयी समाजवादी मानसिकता की आत्मसात् करते हुए वे अन्तर्भूत हो जाएँगे। ...यह आलोचनात्मक यथार्थवाद की ‘समाजवादी यथार्थवादी’ परिणति होगी।”⁶¹ जिसका स्पष्ट अर्थ यह है कि लूकाच जैसे चिंतक यथार्थवादी कला का भविष्य आलोचनात्मक यथार्थवाद की कलागत उपलब्धियों तथा प्रकृति से ‘समाजवादी यथार्थवाद’ की गहरी संधि में उज्ज्वल होते देखते हैं। वे ही नहीं, ‘समाजवादी यथार्थवाद’ के प्रवर्तक मैक्सिम गोर्की ने भी समाजवादी यथार्थवादी की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए नयी पीढ़ी के समाजवादी आस्था वाले लेखकों तथा कलाकारों से आग्रह किया था कि वे आलोचनात्मक यथार्थवाद की उपलब्धियों को एक मूल्यवान विरासत के रूप में स्वीकार करें। समाजवादी यथार्थवाद मनोविज्ञान की मुख्य उपलब्धियों को भी स्वीकार करता है। पर इन सबके बावजूद, वह इस तथ्य से गुरेज रखता है कि “मानव चिंतन की तमाम प्रक्रियाओं या मानव मन के तमाम परिवर्तनों की कुंजी मात्र-रतिग्रंथी या मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के शस्त्रागार में ग्रंथियों की दुर्जेय सेना में से किसी अन्य में खोजी नहीं जा सकती है।”⁶² मनोविज्ञान को आधार मानने वाला मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद, जहाँ प्रकारांतर से मनुष्य की सामाजिक भूमिका को अस्वीकार करता है। वहाँ, समाजवादी यथार्थवाद के अन्तर्गत मनुष्य के जिस यथार्थ पर जोर दिया जाता है, वह एक सामाजिक प्राणी का यथार्थ होता है। अर्थात् वहाँ समाज सापेक्ष व्यक्ति का यथार्थ प्रधानता पाता है। डॉ. शिवकुमार मिश्र इस संदर्भ में लिखते हैं—“समाज सापेक्ष व्यक्ति का वह यथार्थ अन्तर्मुखी तथा बहिर्मुखी यथार्थ के बीच कृत्रिम विभाजन को मिटाने में सफलता प्राप्त करता है।”⁶³ कहने का तात्पर्य यही है कि समाजवादी यथार्थवाद मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद की तरह व्यक्ति के एकांगी रूप का नहीं अपितु उसके दुहरे संघर्ष (अंतर्मुखी-बहिर्मुखी) का चित्र उपस्थित करता है।

‘समाजवादी यथार्थवाद’ कलात्मकता का विरोधी नहीं है, बल्कि वह विचार और कला के परिष्कार के संगम का पोषणकर्ता है। इसी कारण डॉ. शिव कुमार मिश्र बल देते हुए यह कहते

हैं—“समाजवादी यथार्थवाद विचारधारा की परिष्कृति तथा कला की परिष्कृति, दोनों को एक साथ लेकर चलता है। मात्र विचारधारा की परिष्कृति जहाँ उसे विचारधारा के सतही प्रचार का माध्यम बना देती है वहाँ मात्र कलात्मक परिष्कृति विचारधारा के तेज से वंचित करते हुए उसे रूपवाद की सीमाओं में भटका ले जा सकती है। समाजवादी यथार्थवाद की सार्थकता उसके उपर्युक्त द्विआयामी रूप की अन्तर्ग्रथित समग्रता में ही है।”⁶⁴ समाजवादी यथार्थवाद वस्तु या यथार्थ के प्रति अपने समग्रतापरक दृष्टिकोण का ही महत्त्व प्रदान करता है। समाजवादी यथार्थवाद रचनाकार की भविष्य-दृष्टि अर्थात् लेखक के विज्ञान को यथार्थ विरोधी नहीं मानता है। बल्कि, वह यह स्वीकार करता है कि रचनाकार की यह भविष्य-दृष्टि लेखक की समाज विकास संबंधी वैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक समझ के अनुकूल साकार हाने वाली वह सच्चाई होती है जिसका आधार-उत्स वर्तमान का यथार्थ होता है। डॉ. शिवकुमार मिश्र इस परिप्रेक्ष्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—“समाजवादी यथार्थवाद’ यथार्थवाद की समग्र दृष्टि है जो ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में यथार्थ को पूरी समग्रता में देखने के साथ उस भविष्य का रूप भी उद्घाटित करती है जिसका जन्म वर्तमान के बीच से ही होना है, जिसके बीज वर्तमान व्यवस्था ही में छिपे हैं। समाजवादी यथार्थवाद जहाँ वस्तुगत यथार्थ को उसकी सारी सजीवता, सच्चाई तथा तीव्रता के साथ चित्रित करने का आग्रह करता है, वहाँ इस बात पर भी जोर देता है कि यथार्थ का चित्र, उस यथार्थ के बीच सक्रिय मनुष्य का चित्र उसकी सम्पूर्ण भूमिका में उभरे।...केवल समाज की गंदगी, भ्रष्टाचार, शोषण, अराजकता और अंधकार को ही दत्तचित्त होकर न उभारे, इस वास्तविकता से संघर्ष करती हुयी नयी प्रगतिशील शक्ति को भी उतनी ही तीव्रता से मूर्त्त करे, बल्कि उस पर अधिक जोर दे, और इस प्रकार भविष्य के उस ‘विज्ञान’ को सामने लाए जो, विरोधी शक्तियों के इस संघर्ष की एक आवश्यक और अनिवार्य परिणति हो।”⁶⁵ पर यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि ‘समाजवादी यथार्थवाद’ का यह विज्ञान या भविष्य-दृष्टि रोमांटिकों के दिवास्वप्नों से अलग अर्थ रखता है, क्योंकि वह अपने रचनाकारों से इतिहास और विज्ञान सम्मत सोच और समझ की अपेक्षा करता है। इसलिए भी यह कहा जाता है कि—“ समाजवादी यथार्थवाद’ का ‘विज्ञान’ कोरी कल्पना से प्रयुक्त न होकर जैसा कि रोमांटिकों के स्वप्न होते हैं यथार्थ का वैज्ञानिक समझ से जन्मा है। इस भविष्य-दृष्टि की जड़ें भी लेखक के कल्पनाशील मन में नहीं जगत के यथार्थ में, जीवन की गतिमान वास्तविकता में फैली है, कलाकार के मन ने उन्हें परखा और आत्मसात किया है।”⁶⁶ तात्पर्य यह है कि ‘समाजवादी यथार्थवाद’

‘यथार्थ’ को अतीत, वर्तमान और उस वर्तमान से उद्भूत भविष्य बोध के साथ अविच्छिन्न रूप में देखता है।

इस प्रकार ‘सामाजिक यथार्थवाद’ से जीवन का जो बोध सुलभ होता है, उसमें जीवन के घात-प्रतिघात में एक अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है। हमारी आँखें खुलती हैं। और हम अपने तथा समाज के विषय में सोचने को बाध्य होते हैं। यह न तो कोरे सिद्धांतों का पुलिंदा है और ना निश्चित तेवर का साहित्यिक नारा। बल्कि, यह तो जीवन के ज्वलंत प्रश्नों की गवेषणा है। क्रांति का एक सक्रिय अग्रदूत और मानवता के हित का सचेत प्रयास। यह जीवन के प्रति एक इतिहास समन्वित दृष्टि को अपनाता है, इसीलिए समूचा मानव जीवन उसकी कार्यस्थली बनती है। यह वर्ग-संघर्ष को प्रधानता देता है, तथा परिवर्तन कारी शक्तियों की पहचान की चेतना प्रदान करता है। तभी इसमें पूँजीवादी वर्ग का पतन और सब प्रकार की विरोधी शक्तियों को पराजित करने की प्रवृत्ति अंतर्निहित रहती है। अतः यह कहना उचित है कि ‘समाजवादी यथार्थवाद’ यथार्थवादी चिंतन तथा यथार्थवादी कला की वह जीवन्त धारणा है, जो एक ओर प्रकृतिवाद से अपनी भिन्नता कायम करता है तो दूसरी ओर आलोचनात्मक यथार्थवाद से विशिष्ट बनते हुए उसकी अगली कड़ी सिद्ध होता है। यह ‘यथार्थवाद’ को सृजनधर्मी तथा परिवर्तनकामी मूल्य का रूप देता हुआ उसे एक सर्वांग-दृष्टि के रूप में प्रतिष्ठापित करने का पुरजोर प्रयास करता है।

1.2.3.9 जादुई यथार्थवाद

‘यथार्थवाद’ की अवधारणा यथार्थ को समग्रता में देखने और चित्रित करने की कला एवम् दृष्टि में अंतर्निहित होता है। जिसने मनुष्य और समाज के बदलते जीवन की सम्पूर्णता को उसकी संश्लिष्टता में उकेरने का हरदम प्रयास किया है। इसकी गतिमानता, इसकी प्राण-चेतना है, जिस कारण ही यह विभिन्न प्रावस्थाओं में विभिन्न शक्तियों और अभिधानों के साथ रूपायित और विश्लेषित हुआ है। ‘आलोचनात्मक’ एवं ‘समाजवादी’ विशेषणों के साथ लैश होकर यथार्थवाद ने साहित्य और कला के क्षेत्र में अपनी उपलब्धियों को सबके समक्ष प्रस्तुत किया है। परंतु इसके बावजूद भी यह अपने तई नई संभावनाओं को समेटे अपने को प्रत्यक्ष करने वाली एक गतिमान कला सिद्ध किया है। इसमें किसी भी देश या समाज के जीवन की जटिलताओं को पकड़ने की अद्भुत क्षमता है। इसी क्षमता का प्रदर्शन उसके नए स्वरूप ‘जादुई यथार्थवाद’ में भी देखा जाता है।

जैसा कि लक्ष्य किया जा सकता है कि 'जादुई' शब्द का शाब्दिक और प्रचलित अर्थ 'यथार्थवाद' की प्रकृति से बिल्कुल भी मेल नहीं खाता है। जहाँ, 'यथार्थवाद' वास्तविकता तथा 'प्रत्यक्ष' को महत्त्व प्रदान करता है, वहाँ 'जादुई' शब्द ठीक इसके उलट अर्थ को ध्वनित करता है। 'जादुई यथार्थवाद' एक विशेष प्रकार की परिस्थिति में संक्रमित और जटिल होते जीवन को उसकी सम्पूर्णता में उकेरने की एक सचेत प्रक्रिया है, जिसे यथार्थवाद की किसी प्रचलित कोटि में रखना संभव प्रतीत नहीं हुआ। वैसे भी, जहाँ वर्चस्वशाली संस्कृति के द्वारा एक पराधीन समाज और संस्कृति की वास्तविकता पर झूठ का परदा डालने की साजिश हो रही हो; जहाँ साम्राज्यवादी विजेता शक्तियों के द्वारा पराधीन उपनिवेश बने समाज के अतीत को विकृत तथा भविष्य को अंधकारमय बनाने की कुचेष्टा की जा रही हो, वैसी संक्रान्तिकालीन जटिल परिस्थिति में यथार्थ अपने पूरे जादू (प्रभाव) में प्रकट होने के लिए 'यथार्थवाद' के प्रचलित स्वरूप के पार जाने की सुविधा ले ही सकता है। जादुई यथार्थवाद की कला उपन्यासों के जरिए दक्षिण अमेरिका के विभिन्न देशों के यथार्थ पर सायास डाले गए झूठ के परदे को निरावृत करने की प्रक्रिया में सचेष्ट होती हुयी देखी गयी।

'जादुई यथार्थवाद' के लिए अंग्रेजी में 'मैजिक रियलिज्म (Magic Realism) शब्द का प्रयोग होता है। डॉ. अमरनाथ लिखते हैं- "इस शब्द का सबसे पहले प्रयोग का श्रेय (frauz Roh) को है जिन्होंने बीसवीं सदी के तीसरे दशक के कुछ जर्मन चित्रकारों के चित्रों का विश्लेषण करते हुए 'Megicher Realismus' शब्द का प्रयोग किया था। जादुई यथार्थवाद की अवधारणा पाँचवें दशक में अमेरिका में पहुँची।"⁶⁷ कहने का तात्पर्य यही है कि 'जादुई यथार्थवाद' की अवधारणा यूरोप की चित्रकला के माध्यम से साहित्य विशेषकर, उपन्यास साहित्य में आया है। और आज यह अपने प्रचलित रूप में खास तरह के उपन्यास साहित्य के लिए रूढ़ हो चुका है। डॉ. अमरनाथ इस संदर्भ में उद्धृत करते हैं -" धीरे-धीरे यह शब्द खास तरह के उपन्यासों के लिए प्रयुक्त होने लगा। 1940 में ऑस्ट्रियन उपन्यासकार जार्ज साइको (George Saiko, 1892-1962) ने जादुई यथार्थवाद की अवधारणा पर विस्तार से लिखा। इस प्रकार 1980 तक आते-आते यह शब्द एक खास तरह के उपन्यासों के लिए रूढ़ हो गया।"⁶⁸ 'जादुई यथार्थवाद' की दृष्टि से समन्वित उपन्यासों ने अपने परंपरागत ढाँचे को तोड़ने का प्रयास किया है। इस तरह के उपन्यासों में ..." अतीत और वर्तमान का, यथार्थ और भ्रम का, वास्तविकता, और

फैंटेसी का, ऐतिहासिक चेतना और मिथकीय चेतना का, अभिजात संस्कृति और जनसंस्कृति का ऐसा कलात्मक संयोजन था कि इन्हें यथार्थवाद की किसी प्रचलित कोटि में रखना संभव नहीं था। यही कारण है कि इनके लिए 'जादुई यथार्थवाद' शब्द का प्रयोग किया गया।⁶⁹

उरुग्वे के लेखक एडुअर्डो गैलिनो ने साम्राज्यवाद की मदद से टिके हुए सैनिक और असैनिक तानाशाही के शासन में समाज की दशा की ओर इंगित करते हुए 'जादुई यथार्थवाद' की जरूरत और संभावना को प्रकट किया है। डॉ. अमरनाथ उनको उद्धृत करते हुए लिखते हैं कि "मेरे देश में स्वतंत्रता का अर्थ है राजनीतिक कैदियों के लिए जेल ओर आतंक। भय पर टिकी शासन व्यवस्थाओं का नाम है जनतंत्र। यहाँ प्रेम अपनी मोटरगाड़ी से लगाव तक सीमित है और क्रांति का प्रयोग बर्तन धोने के पाउडर की तरह होता है। दक्षिण अमेरिका के अनेक देशों में एक शांतिपूर्ण देश का मतलब है सुव्यवस्थित श्मशान और स्वस्थ आदमी की पहचान है नपुंसकता।"⁷⁰ जिससे स्पष्ट समझा जा सकता है कि समाज की ऐसी जटिल और भयावह परिस्थिति में जहाँ वास्तविकता ऊपरी सतही-यथार्थ के नीचे दबी पड़ी हो, वहाँ यथार्थ को उकरने के लिए एक नए ढंग का संधान अकल्पनीय प्रतीत नहीं होता है। डॉ. मैनेजर पाण्डेय भी इन परिस्थितियों में जादुई यथार्थवाद की संभावनाओं की वकालत करते हैं। डॉ. अमरनाथ ने उनको उद्धृत करते हुए लिखा है— "मैनेजर पाण्डेय सवाल करते हैं कि जहाँ समाज और जीवन की वास्तविकताएँ ऐसी हों, वहाँ उनकी अभिव्यक्ति क्या आलोचनात्मक यथार्थवाद या समाजवादी यथार्थवाद की पद्धति से संभव है, ऐसी वास्तविकताओं की अभिव्यक्ति के लिए दक्षिण अमेरिका के उपन्यासकारों ने उपन्यास की वह कला विकसित की है, जिसे 'जादुई यथार्थवाद' कहा जाता है। यहाँ मिथक और परिकथाओं के माध्यम से वास्तविकता और सचाई की अभिव्यक्ति होती है। इन उपन्यासों में मिथकीय-चेतना ही ऐतिहासिक चेतना बन रही है और यथार्थ का जादू जादुई यथार्थवाद में प्रकट हो रहा है।"⁷¹ जिससे यहाँ 'यथार्थवाद' की मुख्य विशेषताएँ-कलाकार या लेखक का इतिहास चेतना सम्पन्न होना तथा यथार्थ को उसकी समग्रता में पकड़ना -एवम् उसका प्रभावी अंकन करना, ताकि परिवर्तनकारी इच्छाशक्तियों के निर्माण का मार्ग प्रशस्त हो सके, आदि बोध को भिन्न स्वरूप में अंतर्निहित होते हुए देखा जाता है। भले ही वह इतिहास-चेतना, मिथक या परिकथाओं के संज्ञान से यथार्थ को उसके पूरे जादू (प्रभाव) में अंकित करने से होता हो।

अतः समग्रता में विचार किए जाने पर यह कहा जा सकता है कि 'जादुई यथार्थवाद' की

चर्चा पश्चिम के साहित्य में जमकर हुयी है। किंतु भारतीय संदर्भ में खासकर हिंदी साहित्य में अभी भी इसका स्वरूप पूरी तरह स्पष्ट नहीं हो सका है। किंतु, इसकी संभावनाओं से किसी साहित्यकार का कोई इन्कार नहीं है और ना ही इससे कोई गुरेज रखता है। यह, 'यथार्थवाद' संबंधी दृष्टि के गतिशील होने का एक तरफ परिचय देता है, तो दूसरी ओर 'यथार्थवाद' को नई शक्ति और संभावनाओं से आवेष्टित भी करता है।

अब यहाँ, यथार्थवाद के स्वरूप विश्लेषण की चर्चा को समग्रता में देखा-परखा जाए तो यह कहा जा सकता है कि उक्त चर्चा से निष्कर्षस्वरूप कई बातें छनकर आती हैं। 'यथार्थवाद' अपनी विभिन्न प्रावस्थाओं में कई रूपों के अंतर्गत विवेचित-विश्लेषित होता है। यह कहीं रूपित होता है तो कहीं विरूपित। इसे कहीं जीवन समाज तथा मनुष्य के कुत्सित तथा वीभत्स पक्ष को अविकल प्रस्तुत करने वाले चित्रण के रूप में देखने-परखने की कोशिश होती है, जैसा कि इसके 'प्रकृतिवाद' (Naturalism) विश्लेषण के अंतर्गत होता है। तो कहीं, इसके खंडित पक्ष को मूलस्वरूप बताने की कोशिश होती है। जैसा कि, 'मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद' के रूप में केवल मनुष्य के अंतर्गत को प्रमुखता प्रदान करते हुए बाह्य सत्ता को अस्वीकार करने की हठधर्मिता को यथार्थवाद की मुख्य प्रवृत्ति बताया जाता है। 'यथार्थवाद' को कभी रोमांटिकता के आग्रह से युक्त बताने की कोशिश में यथास्थितिवाद को बल प्रदान किया जाता है, तो कभी मनुष्य की स्वतंत्रता की आड़ में मनुष्य-जीवन को असंगतियों का पुंज बताया जाता है। यही नहीं, मनुष्य मन की मुक्ति हेतु अवचेतन मन की विवेकहीन ओर यथावत् प्रस्तुति को 'यथार्थवाद' का रूप दिया जाता है। जिसको उदाहरणस्वरूप अति यथार्थवाद संबंधी विवेचन के अंतर्गत लक्ष्य किया जाता है।

'यथार्थवाद' के स्वरूप संबंधी उक्त विश्लेषण में इसकी संभावनाओं की ओर भी इशारा मिलता है। जैसा कि 'ऐतिहासिक यथार्थवाद' के अंतर्गत इतिहास तथा 'जादुई यथार्थवाद' के अंतर्गत मिथक और परीकथाओं के माध्यम से वास्तविकता को प्रभावी तरीके से व्यक्त करने की चेष्टा होती है। साथ ही, यथार्थवाद के गतिमान स्वरूप तथा इसकी संभावनाओं को झलकाने की कोशिश होती है। यहाँ, यह बात भी उभरकर आती है कि 'यथार्थवाद' के अंतर्गत यथार्थ यथास्थिति नहीं होता है। बल्कि, अपने मूल रूप में अर्थात् स्वभावगत वह आलोचनात्मक होता है। आलोचनात्मक यथार्थवादी रचनाकार इस वस्तुजगत को सम्पूर्णता में तथा बड़ी पैनी नज़र से देखता

है। जहाँ, कलाकार (रचनाकार) की सत्य के प्रति अटूट निष्ठा, समाज और जीवन का समग्र आकलन, उसके संश्लिष्ट यथार्थ का सूक्ष्म विश्लेषण, सांस्थानिक विकृतियों का निर्मम उद्घाटन, जीवंत तथा प्रतिनिधि चरित्रों के माध्यम से मनुष्य और समाज के अंतर्संबंधों का चित्रण तथा पूर्वाग्रहविहीनता के साथ युग संदर्भिता को उजागर करने आदि कुछ ऐसे पहलू होते हैं, जिन्हें यथार्थवादी कला-दृष्टि की उपलब्धियाँ कहा जाता है। 'यथार्थवाद' के स्वरूप -विश्लेषण के उक्त विवेचन में यह बात भी निकलकर आती है कि 'समाजवादी यथार्थवाद' 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' की उपलब्धियों को अंगीसात् करते हुए उसे नई संभावना से आवेष्टित करता है। जहाँ, 'यथार्थ' की समग्रतापूर्ण दृष्टि पहचान में आती है। जहाँ, ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में वस्तुगत यथार्थ को पूरी समग्रता में देखने के साथ उस भविष्य का रूप भी उद्घाटित होता है जिसका जन्म वर्तमान के गर्भ से होना होता है। या जिसके बीज वर्तमान व्यवस्था में अंतर्भुक्त रहते हैं। अर्थात् जहाँ, वर्तमान अतीत और भविष्य की ऐतिहासिक अविच्छिन्नता लिए हुए उसकी एक कड़ी स्वरूप होता है। समाजवादी यथार्थवाद' यथार्थवादी चिंतन तथा यथार्थवादी कला का सर्वांगीण रूप प्रस्तुत करने वाली एक जीवंत धारणा बनकर उभरता है जिसकी संधि आलोचनात्मक यथार्थवाद से बड़ी गहरी होती है।

1.2.4 यथार्थवाद का उदय : पाश्चात्य और भारतीय संदर्भ

'यथार्थवाद' का आज जो रूप है वह पश्चिमी जगत् की देन है। पश्चिम में साहित्यिक आंदोलन का आरंभ फ्रांस की सन् 1830 की क्रांति से जुड़ा हुआ है। इस संदर्भ में डॉ. सुरेश सिन्हा लिखते हैं— " यथार्थवाद का वास्तविक संबंध फ्रांस यथार्थवादी स्कूल से है, जिसका प्रथम प्रयोग 1835 में आदर्शवादी विचारधारा में विश्वास रखने वालों के विरुद्ध साहित्यिक विवरण के रूप में हुआ। बाद में 1856 ई. में एक पत्रिका 'रियलिज़्म' की स्थापना के पश्चात् इसका प्रयोग साहित्य में भी होने लगा था।"⁷²

उल्लेखनीय है कि 18 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जन्म लेने वाला स्वच्छंदतावादी आंदोलन अपनी उपादेयता और विशिष्टता को अधिक देर तक कायम नहीं रख पाता है। 19वीं सदी के मध्य तक आते-आते इसकी शक्ति क्षीण होती है। यथार्थवाद का प्रखर रूप इसे नेपथ्य में डाल देता है। इस संदर्भ में डॉ. शिवकुमार मिश्र लिखते हैं— " दार्शनिक तथा वैज्ञानिक

निष्पत्तियों को अंतर्भूत करते हुए उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से एक सशक्त साहित्यिक आंदोलन के रूप में यथार्थवाद का उद्भव हुआ।... यथार्थवादी आंदोलन के इस उद्भव ने परंपरा से साहित्य तथा कलाओं का अनुशासन करनेवाली भाववादी चिंतना को आघात पहुँचाया ही, स्वच्छंदतावादी साहित्य एवं कलाचिंतना को भी गत की वस्तु बना दिया।”⁷³ जिससे यह स्पष्ट होता है कि उन्नीसवीं शताब्दी की वैज्ञानिक प्रगति के माहौल में उभरता हुआ यथार्थवादी आंदोलन निश्चय ही अपने तर्क उस विशेष जीवन-दृष्टि को समाहित किए हुए रहता है, जो तमाम भाववादी रुझानों को निरस्त कर डालता है। डॉ. प्रेमलता जैन इस संबंध में लिखती हैं— “ यथार्थवाद स्वच्छंदतावाद की तुलना में एक और कारण से विकसित होता गया। यह एक खुली सोच रखने वाला सिद्धांत है जिसने समय-समय पर नए-नए रूपों में अपना महत्त्व सिद्ध किया।”⁷⁴ जो इसके प्रगतिशील जीवन-दृष्टि का बोध कराता है। अपनी इसी जीवन-दृष्टि की बदौलत यह नाना रूपात्मक जीवन और जगत् को उसकी सम्पूर्णता तथा गतिशीलता में पकड़ते हुए अपनी विशिष्ट पहचान बनाता है।

भारतीय साहित्यिक संदर्भ में ‘यथार्थवाद’ पश्चिम के बाद आता है। इस संदर्भ में 19वीं शताब्दी युगांतकारी सिद्ध होता है। इस शताब्दी में पुराने कई मूल्यों, मानदंडों, आदर्शों और परिस्थितियों के प्रति आक्रामक तेवर दिखलायी पड़ता है। इसीलिए “19वीं शताब्दी को विद्रोह की शताब्दी भी कहा जाता है।”⁷⁵ ध्यातव्य है कि इस विद्रोह को मध्यकालीन धार्मिक-सामाजिक रूढ़ परंपराओं को बदलने के क्रम में, भारतीय जनमानस पर थोपी जाने वाली पराधीनता से मुक्ति के रूप में तथा प्राचीन जीवन-दर्शनों के प्रति वैचारिक आलोड़न खड़ा करने के संदर्भ में लक्ष्य किया जाता है। जिसका स्पष्ट प्रतिबिम्बन साहित्य में भी होता है। इसी कारण 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का साहित्य नवजागरण कालीन साहित्य की पृष्ठभूमि तैयार करता है। बीसवीं शताब्दी में यह नवजागरण नवीन बौद्धिक और वैचारिक उत्कर्ष को प्राप्त करता है, जो भारतीय चिंतन और साहित्य में गुणात्मक परिवर्तन उपस्थित करता है। इसके साथ-साथ रूस की 1917 की क्रांति, मार्क्स एंगेल्स के सिद्धांतों का प्रसार, डार्विन का विकासवाद आदि साहित्य में ‘यथार्थवाद’ के प्रति ठोस एवम् वैज्ञानिक चेतना को उत्पन्न करता है। हिंदी के मूर्धन्य साहित्यकार व विचारक यशपाल इस संदर्भ में पर्याप्त प्रकाश डालते हैं— “ हमारे देश में यथार्थवाद के प्रति विशेष चेतना और आधुनिक साहित्य में यथार्थवाद के लिए मॉग 1930-35 में उग्र रूप ले लेने वाली राजनीतिक

चेतना से आरंभ हुयी और यही वह समय था जब देश के साहित्यिकों ने श्रेणी-संघर्षों द्वारा समाज की विकास प्रक्रिया के सिद्धांतों का परिचय दिया।⁷⁶ इस उद्धरण में साफ देखा जा सकता है कि यशपाल यथार्थवाद की साहित्यिक चेतना को बुलंद राजनीतिक चेतना या आलोड़न के साथ जोड़ कर देखते हैं। वैसे भी, एक पराधीन राष्ट्र में विवेकसम्मत चेतना पहले अपनी स्वाधीनता की ही माँग करती है। किंतु, यह स्वाधीनता अपने जीवन-जगत् तथा वहाँ उपस्थित नाना रूपात्मक समस्याओं से रू-ब-रू होकर ही आर्जित की जा सकती है। यही कारण है कि राष्ट्रीयता का प्रश्न ठोस वास्तविक जगत् की अन्य समस्याओं और संघर्षों के साथ हिंदी कथा-साहित्य में एक स्वर के रूप में बुलंद होता है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि यथार्थवाद की साहित्यिक निष्पत्ति प्रथमतः फ्रांस के साहित्यिक चिंतकों द्वारा होती है। जो भाववादी तथा आदर्शवादी समस्त रुझानों को नेपथ्य में डाल देती है। यह स्वच्छंदतावादी साहित्यिक अनुशासन को भी निरस्त करती हुयी एक प्रखर जीवन-दृष्टि के रूप में अपनी पहचान बनाती है। भारतीय संदर्भ में, यह आधुनिकता की विवेकपूर्ण-दृष्टि से सम्पन्न नवजागरण कालीन चेतना तथा बुलंद राजनीतिक चेतना के राष्ट्रीय स्वर के रूप में आती है तथा कथा-साहित्य जगत् में पूरी तरह छा जाती है।

1.3 यथार्थ और मार्कण्डेय

उल्लेखनीय है कि कहानीकार, विचारक, एवम् आलोचक मार्कण्डेय ने स्वतंत्र रूप में एक ग्रंथकार की भाँति, 'यथार्थ' संबंधी किसी पुस्तक का प्रणयन नहीं किया है तथापि उनकी छिटपुट टिप्पणियाँ तथा कहानियों से जुड़ी बातें ऐसी हैं, जिन्हें सम्मिलित रूप में अर्थात् समग्रता में अवलोकित किया जाए तो उनकी यथार्थ संबंधी धारणा पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

'यथार्थ' के संबंध में उनकी सर्वप्रथम बात यह है कि वे साहित्य को विशेषकर कथा-साहित्य को यथार्थ से अपरिहार्य रूप में जुड़ा हुआ पाते हैं। वे कहानियों के यथार्थपरक होने की बात बार-बार दुहराते हैं। अर्थात् एक से ज्यादा मौकों पर वे इस बात को प्रतिष्ठित करते हुए नजर आते हैं कि यथार्थ के विविध संदर्भों में ही कहानी की जीवंत शक्ल दिखायी देती है। इस संदर्भ में वे लिखते हैं—“कहानी जीवन की कला है, उसके बाह्य और अन्तर को बहुत दूर तक झुठलाना भी संभव नहीं है। इसलिए जब हम नये जीवन सत्यों की बात करते हैं और उसे कहानी के संदर्भ

में ढूँढते हैं तो यथार्थ जीवन के प्रकाश में उसका मानदण्ड भी ढूँढना होगा।⁷⁷ जिसका साफ मतलब यह होता है कि कहानी जीवन की कला है। अर्थात् जीवन की वास्तविकताओं के आलोक में सिरजी गई कलात्मक विधा। वे कहानी को व्यापक लक्ष्य से जुड़ा हुआ बताते हैं। यहाँ नए जीवन सत्यों का कहानी द्वारा वहन करने की बात से उक्त तथ्य की ओर ही इशारा होता है। यही नहीं, वे तो कहानी के निर्माण के साथ-साथ उसके मूल्यांकन हेतु भी 'यथार्थ' को एमकात्र कसौटी के रूप स्वीकार करने की वकालत करते हैं।

ध्यातव्य है कि मार्कण्डेय कहानी लेखन के क्षेत्र में पदार्पण करने से पूर्व उसकी परंपरा से अवगत हो चुके होते हैं। वे 'कथा' से कहानी के अलगाव को भी भली-भाँति देखे हुए होते हैं। तभी वे यथार्थ रूपी प्रस्थान बिंदु को बेहतर समझते हुए उसे साहित्य के प्रति कलाकार का आधुनिक दृष्टिकोण मानते हैं। उनका यह कहना—“स्पष्टतः जहाँ यथार्थवादी मान्यताएँ सामान्य जीवन के अंतमार्ग से सत्यों की खोज की माँग करती हैं, वहीं हमारा प्राचीन साहित्य नैतिक मूल्यों के द्वारा जीवन का भाष्य उपस्थिति करता है”⁷⁸ इस बात पर बल देता है कि आधुनिक कहानी को यथार्थवादी मान्यताएँ ही प्राचीन साहित्य के आदर्शपरक मूल्यों तथा नैतिक भाष्यों से विमुक्त कर उसे जीवन के वस्तुगत संदर्भों से जोड़ देती हैं। वे इस प्रसंग में आगे कहते हैं—“इसलिए नवीन जीवन-संदर्भों को कथा से अलग करके देखना एक भूल है। एक तो इसलिए कि जीवन-संदर्भ कथा की आधारभूमि है, वैसे ही जैसे किसी चित्र के लिए तूलिका, रंग और कैनवस।”⁷⁹ जिससे यह पता चलता है कि वे आधुनिक कहानी की यथार्थ से सम्पृक्ति को अनिवार्य और अपरिहार्य समझते हैं। यहाँ इस बात को भी समझा जा सकता है कि वे नवीन जीवन-संदर्भों की बात कहते हुए यथार्थ के गतिमान स्वरूप की ओर संकेत करते हैं। जिसका साफ अर्थ यह भी होता है कि वे यथार्थ को यथास्थिति भर या उसे जड़ स्वरूप में देखने का पुरजोर विरोध करते हैं। अपितु यहाँ उनका मतलब जड़ यथार्थ अर्थात् यथास्थिति से पार जाने की अकुलाहट में दिखायी देता है। यही अकुलाहट उन्हें यथार्थ को कलात्मक रूप प्रदान करने की ओर उन्मुख करती है—“मेरे लिए कहानी लिखने की बात यहीं से उठी। मात्र अनुभवों की अंधी गली में मेरा मन कभी रमा ही नहीं और हर बार, हर नए जीवनानुभवों के साथ एक नया प्रश्न उठने लगा। मान्यताओं और आडम्बरो से ऊबकर यथास्थिति के विरुद्ध कुछ कहने की अकुलाहट ही शायद मेरे लिखने का कारण बनी।”⁸⁰ जिससे जाहिर होता है कि यथार्थ का परिवर्तित स्वरूप ही इन्हें अपनी कहानियों के लिए वरेण्य मालूम पड़ता है।

वे यथार्थ को एक परिवर्तनकामी मूल्य के रूप में देखते हैं। वे यथार्थ संबंधी अपनी निजी धारणा में उसे एक कलात्मक जीवन-दृष्टि के रूप में इसलिए भी स्वीकारते हैं, क्योंकि वे साहित्य को यथार्थ (वस्तुगत जीवन-संदर्भों) की अनुकृति नहीं मानते हैं। और ना ही साहित्य को उसका प्रतिबिंब समान समझते हैं, जिसे दर्पण हू-ब-हू पेश करता है। दूसरे अर्थों में समझा जाए, तो वे यथार्थ को प्रकृतवाद से भिन्न स्वरूप में ग्रहण करते हैं। उनका यह कहना—‘आज की कहानी अपने बाह्य और आंतरिक दोनों उपकरणों में सचेत रूप से समाज के वस्तुगत संदर्भों की प्रतिलिपि है, लेकिन वह प्रकृतवादी नहीं है’⁸¹ उक्त तथ्य को ही पुष्ट करता है। यहाँ लक्ष्य किया जाए तो, उनका अपने इस कथन में ‘सचेत’ शब्द का व्यवहार यथार्थ का साहित्य में हू-ब-हू प्रतिलिप्यांतरित न करने तथा प्रकृतवाद सदृश्य न समझे जाने के अर्थ में ही व्यक्त होता है।

यही नहीं, वे यथार्थ से संबंधित अपनी निजी धारणा में उसे किसी भी प्रकार के रोमान से अलग देखते हैं। उनकी दृष्टि में यथार्थ (सामाजिक वस्तुगत संदर्भों) के साहित्यिक प्रत्यांकन के संदर्भ में रोमानी दृष्टिकोण यथार्थ की शक्ति को कुंठित करता है। वे ऐसा समझते हैं कि रोमानी भावबोध सामाजिक जीवन की वस्तुपरकता को काल्पनिक चादर से आच्छादित कर लेता है और यथार्थ का गतिमान स्वरूप अभिव्यक्त होने से वंचित रह जाता है। प्रेमचंद के बाद और ‘नयी कहानी’ के पहले के कथाकार के संदर्भ में वे इस तथ्य को उजागर करते हैं— “प्रगतिशील कथाकारों का रोमानी यथार्थवाद आजादी के साथ और भी फीका पड़ गया। वे नयी परिस्थितियों के मूल्यांकन में चूक गए थे और नई वास्तविकता की उपेक्षा कर कल्पनिकता की सृष्टि कर रहे थे।”⁸² जिसका स्पष्ट मतलब यह निकलता है कि वे यथार्थ के बरक्स ‘रोमानी यथार्थवाद’ जैसे किसी पदबंध को स्वीकृति नहीं प्रदान करते हैं। वे इस प्रकरण को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि रोमानी यथार्थवाद की प्रकृति आदर्शवाद के साम्य में है, जिसके मूल में ‘यथार्थ’ का विरोध अंतर्व्याप्त रहता है—“ बाहर से देखने में लगता है कि रोमानी यथार्थवाद और आदर्शवाद में बड़ा अन्तर है और प्रायः इस कालविशेष में सारा लेखक समुदाय इन्हीं दो खेमों में बँटा रहा और एक दूसरे पर तीखे प्रहार भी करता रहा, लेकिन रचना प्रक्रिया के विश्लेषण द्वारा देखा जाए तो इन दोनों की रचनात्मक ग्रहणशीलता में अद्भुत साम्य है। दोनों के आदर्श रचना से बाहर हैं और दोनों रचना की देह का सृजन कल्पना द्वारा इस तरह करना चाहते हैं कि वह उनकी बाह्य मान्यताओं की मांग पूरी कर सके। सामाजिक संदर्भों से उत्पन्न वास्तविकता और रचनाकार की उससे सम्पृक्ति का सवाल मैंने

इन गोष्ठियों में बार-बार उठाया है और उस समय के क्रांतिकारियों तथा व्यक्तिवादियों की रचना-प्रक्रिया के मूल को उद्घाटित कर दोनों में निहित गहरी समानता को लोगों के सामने रखने की बार-बार कोशिश की।”⁸³

यहाँ प्रमुख रूप से दो बातें उभरकर आती हैं। पहली, रचनाकार का यथार्थबोध समाजिक संदर्भों से उत्पन्न वास्तविकता से सम्पृक्त होने में निहित रहता है। दूसरी, ऊपरी तौर पर यह प्रतीत होता है कि यथार्थ के साहित्यिक प्रत्यांकन में कल्पना की भूमिका खारिज हो जाती है, किन्तु वास्तविकता कुछ और होती है। मार्कण्डेय ‘कल्पना’ की भूमिका को पूरी तरह खारिज नहीं करते हैं बल्कि उसे नई अर्थवत्ता प्रदान करने की वकालत करते हैं। वे इस संदर्भ में लिखते हैं— “...आधुनिक युग में सभी जागरुक कथाकारों के लिए कहानी कल्पना की बुनावट न होकर जीवन यथार्थ का अंग बन गई है।...पहले लेखक कल्पना से कहानी गढ़ता था पर अब कल्पना से उसमें रंग भरता है—यथार्थ को और भी चटख और प्रभावशाली बनाता है।”⁸⁴ जिससे समझा जा सकता है कि उन्हें कल्पना उस हद तक ही वरेण्य है जिस हद तक वह यथार्थ-चित्रण को प्रभावशाली बनाने की भूमिका का निर्वहन करती है। उनकी यथार्थ की अपनी निजी धारणा में कल्पना की उक्त नई भूमिका गहरे अर्थ रखती है, क्योंकि इसी कारण साहित्य यथार्थ की प्रतिलिपि बनने से बच जाता है।

उल्लेखनीय है कि वे यथार्थ को एकांगी करके नहीं देखते हैं। वे यथार्थ में वर्तमान की केन्द्रीयता देखते हुए उसे अतीत और भविष्य की अविच्छिन्नता में पहचानने पर बल देते हैं। इसी कारण उनकी यथार्थ-दृष्टि यथार्थ को यथास्थिति की एकांगिता के पार देखती है। वे अपने लेखन के संदर्भ में, बल्कि यँ कहा जाए कि वे अपनी रचना-प्रक्रिया के अनन्तर अपने भीतर और बाहर के यथास्थितिवाद से बार बार मुठभेड़ करते हैं तथा वास्तविकताओं के मध्य से परिवर्तनकामी शक्तियों की पहचान करने हेतु अग्रसर रहते हैं। उनकी उक्त बेचैनी को उनके निम्न कथन में पढ़ा जा सकता है—“लेकिन बेचैनी तो इस बात की है कि परिवर्तन की वह सूक्ष्म और शतमुखी गति, समय के नन्हें-से-नन्हें क्षणांश में कैसे लक्षित की जाए कि परिवर्तन की दिशा हमेशा दिखायी देती रहे। मेरे लिए रचनात्मक प्रक्रिया का सत्य इसी आत्म-संघर्ष का परिणाम है ...क्योंकि जो दिखाई पड़ता है, उसे स्वीकार करते हुए भी उसी को पूर्ण सत्य मान लेने का अर्थ है अपनी दृष्टि को सर्वथा मौलिक, परिशुद्ध तथा स्थिर मान लेना, साथ ही यह स्वीकार कर लेना कि जीवन वैसा ही रहेगा,

जैसा दिखाई पड़ रहा है।⁸⁵ यहाँ यह समझने में देर नहीं लगती है कि उनके लिए यथार्थ एक परिवर्तनकामी दृष्टि भी है, जो यथास्थिति के पार जाने की तीव्र इच्छा लिए हुए रहती है।

इसी संदर्भ में, वे वर्ग-संघर्ष को भी महत्व प्रदान करते हैं। किंतु, उनका यह वर्ग-संघर्ष ठोस सामाजिक जीवन-संदर्भों की संश्लिष्टता की पहचान पर अवलंबित रहता है— “कथा में वास्तविकताओं के चित्रणों की यह सर्वथा नयी यात्रा थी जिसका अभिप्राय वर्ग-संघर्ष की जनचेतना तक पहुँचना था। ऐसे सोये हुए आडम्बरोँ और रूढ़िग्रस्त समाज में जहाँ हीनता, अपमान और यातना को मनुष्य की नियति बना दिया गया हो, वास्तविकतावादी कथाकार की सबसे पहली मुठभेंड़ इस दैवी सामाजिक ढाँचे से होती है। अर्थवाद ओर स्वभाववाद का खतरा तो बाद में आता है। मैंने बहुत गहराई से अपने सामाजिक संदर्भों की छानबीन की ओर सांस्थनिक रूढ़ियों को समझने का प्रयत्न किया। मेरे सामने समस्या थी कि अपने कथा-संदर्भों को मैं किस तरफ से शुरू करूँ कि भीतर के यथास्थितिवाद और बाहर के रोमान से बचकर वास्तविकताओं तक पहुँच सकूँ।”⁸⁶ यहाँ, यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि उनके लिए उनकी रचनात्मक यात्रा यथार्थ के ऊपरी या सतही स्तर तक ही सीमित नहीं रहती, बल्कि सामाजिक जीवन के वास्तविक संदर्भों की तह में प्रवेश करती है, और आलोचनात्मक तरीके से उन पहलुओं को उद्घाटित करती है, जो वास्तविकता के उजागर होने में बाधक बनी रहती हैं। मार्कण्डेय की धारणा में यथार्थ का स्वरूप आलोचनात्मक ठहरता है। वे स्वयं भी इस बात को स्वीकार करते हैं और उसे अपने कहानी-लेखन में ढालने की कोशिश करते हैं। वे इसी ‘आलोचनात्मक यथार्थ’ की राह से गुजरते हुए ‘समाजवादी यथार्थवाद’ की मंजिल तक पहुँचने की प्रक्रिया को न सिर्फ खुद के लिए उपयुक्त समझते हैं, बल्कि नए रचनाकार के लिए भी स्वाभाविक क्रम मानते हैं— “आलोचनात्मक यथार्थ की जिन अवधारणाओं के कारण मैंने लेखन शुरू किया था सामाजिक संदर्भों में उसे विकसित करते रहने के लिए मैंने अपनी निजी जीवन परिस्थितियों को सदा उसके अनुकूल बनाए रखा।”⁸⁷ जिससे यह समझा जा सकता है कि उनके अनुसार आलोचनात्मक यथार्थ के रचनाकार के लिए जीवन-संघर्षों के रहस्यों का समझना बेहद जरूरी है। अर्थात् ठोस सामाजिक संदर्भों का ऐतिहासिक परिज्ञान अति आवश्यक है। इसी पथ पर अग्रसर होते हुए उनका कहानीकार समाजवादी दृष्टि को आत्मसात् करता है। दूसरे शब्दों में, वे आलोचनात्मक यथार्थ की परिणति या संगति समाजवादी यथार्थ में मानते हैं— “यह सच है कि भारतीय समाज की रचना का कोई भी जानकार सहसा समाजवादी यथार्थ की माँग नए लेखक से

नहीं कर सकता । ऐसा करना ऐतिहासिक विकास की समझदारी को नकारना होगा।”⁸⁸ यहाँ जाहिरा तौर पर यह कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक समझदारी से उनका अभिप्राय यथार्थ के आलोचनात्मक स्वरूप के संज्ञान से है और एक नवोदित रचनाकार के लिए उसकी यथार्थ-यात्रा आलोचनात्मक राह से गुजरकर ही समाजवादी परिणति तक पहुँचती है।

अतः समग्रता में विचार किए जाने पर मार्कण्डेय की यथार्थ-धारणा के निम्नलिखित पहलू उद्घाटित होते हैं। पहला, यथार्थ उनके लिए कहानियों का प्राणतत्त्व है। उनकी दृष्टि में यथार्थ की विद्यमानता कहानियों को कालजयी गुणों से सित्त करती है। उनके मतानुसार आधुनिक कहानी ‘यथार्थ’ रूपी बिंदु पर पहुँचकर ही प्राचीन साहित्य (नीतिपरक तथा आदर्शपरक कथाओं) के नैतिक भाष्यों से निर्लिप्त होती है एवम् नए जीवन-सत्यों को वहन करने योग्य बन पाती है। दूसरा, वे यथार्थ की कसौटी या मानदण्ड पर या उसके आलोक में, कहानी विधा के रचना और आलोचना दोनों रूपों को परखने की हिमायत करते हैं। तीसरा, वे यथार्थ को ‘ठहरे या बसियाये’ हुए रूप में न देखकर उसके गतिमान और परिवर्तित स्वरूप को महत्त्व देते हैं। चौथा, वे यथार्थ को उसकी वस्तुपरकता के संश्लिष्ट रूप में ग्रहण करने की बात करते हैं। पाँचवा, वे यथार्थ के प्रत्यांकन के संदर्भ में काल्पनिक या रोमानी दृष्टिकोण को अस्वीकृत करते हैं। अर्थात् वे ‘यथार्थ’ को ‘प्रकृतवाद’ की धारणा से अलग कर देखते हैं। परंतु, वे ‘कल्पना’ की नई भूमिका को ‘यथार्थ’ को प्रभावशाली बनाने के संदर्भ में स्वीकार करते हैं। छठवाँ, वे यथार्थ की वर्तमानता को महत्त्व प्रदान करने के बावजूद उसे उसके अतीत और भविष्य की ऐतिहासिक संश्लिष्टता में पहचानने की हिमायत करते हैं। इसी कारण वे यथार्थ को आलोचनात्मक स्वरूप से समाजवादी स्वरूप की ओर बढ़ने के क्रम में देखते हैं। सारतः उनकी यथार्थ -धारणा आलोचनात्मक यथार्थ की उपलब्धियों को आत्मसात् करती हुए समाजवादी यथार्थ की संगति को प्राप्त करती है एवम् अपनी पहचान कायम करती है, अपनी अर्थवत्ता प्रमाणित करती है।

इस प्रकार देखा जाए तो प्रस्तुत अध्याय के समस्त विंदुओं के विवेचन-विश्लेषण के तदुपरान्त निष्कर्ष स्वरूप कई बातें उभर कर आती हैं। पहली, यथार्थ के मायने को लेकर होती है। यथार्थ का संबंध प्रत्यक्षतः वस्तु जगत् से होता है। यह ज्ञानेन्द्रियों के बोध का विषय है, जो प्रामाणिक और तथ्यपरक होता है। दूसरी, ‘यथार्थवाद’ शब्द ही यथार्थ को एक व्यापक फलक से जोड़ता है। यथार्थवाद की अवधारणा के अन्तर्गत ही यथार्थ का प्रकृति स्पष्ट होती है। तीसरी, यथार्थ का

दर्शन और कला जगत् से जुड़ी परिघटना का रूप है। कला और दर्शन में अपनी पहचान बनाने वाली यथार्थ की धारणा पश्चिमी जगत में हुयी प्रदीर्घ चिंतना की देन है। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में 'यथार्थवाद' यथार्थ संबंधी बहस को अपने केन्द्र में लाता है। चौथी , यथार्थवाद के स्वरूप से संबंधित है। जहाँ, यह देखा जाता है कि यथार्थवाद अपनी विभिन्न प्रावस्थाओं में विवेचित होने के क्रम में कहीं रूपित होता है तो कहीं विरूपित भी। जहाँ, यथार्थवाद का प्रकृतवाद के अर्थ में विरूपण होता है, अतियथार्थवाद के रूप में इसका खंडित अर्थ लगाया जाता है। वहीं, 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' के रूप में 'यथार्थ' अपनी संभावनाओं को पेश करता है। जिसकी उपलब्धियाँ 'सामाजिक यथार्थवाद' से जुड़कर 'यथार्थ' को एक सर्वांगीड़ रूप प्रदान करती हैं। पाँचवी, 'यथार्थवाद' के उदय के परिप्रेक्ष्य से जुड़ी है। मनुष्य की प्रत्यक्षदर्शी बुद्धि ही यथार्थवाद को पश्चिमी जगत् में एक बौद्धिक गुण के रूप में स्थापित करती है। 19 वीं शताब्दी के मध्य में यथार्थवाद दर्शन और साहित्य के क्षेत्र में व्याप्त समस्त भाववादी रुझानों को निरस्त करता हुआ अपनी पहचान कायम करता है। हिंदी साहित्य जगत् में भी यथार्थवाद अपनी उपस्थिति सन् 1930-35 के आस-पास नवजागरण कालीन चेतना तथा राष्ट्रीयता के स्वरो के साथ जुड़कर कायम करता है। छठवीं, यथार्थ के गतिमान मूल्य की है। मार्कण्डेय का कहानीकार यथार्थ के गतिमान स्वरूप की चर्चा करता है। यथार्थ को कलापूर्ण जीवनदृष्टि तथा पद्धति दोनों रूपों में विवेचित-विश्लेषित करता हुआ उसे असीम संभावनाओं से युक्त करता है। यथार्थ अपने गतिमान तथा लचीले स्वरूप के कारण ही सांप्रतिक जीवन-संदर्भों की जटिलताओं तथा संश्लिष्टताओं को पकड़ पाने में सक्षम होता है। जिसका स्पष्ट प्रमाण यथार्थ का 'जादुई यथार्थवाद' के स्वरूप के रूप में उभरना होता है। जहाँ, मिथक और परीकथाओं के माध्यम से सामाजिक जीवन के वस्तुगत संदर्भों का प्रभावी (जादुई) प्रत्यांकन संभव हो पाता है। कहना न होगा कि 'यथार्थ' की दृष्टि में नित नयी संभावनाओं के तत्त्व व्यापत होने के कारण ही यह आज भी साहित्य, मुख्य रूप से कथा-साहित्य से अपरिहार्य रूप में जुड़ा है। यही वजह है कि हिंदी कहानियाँ भी यथार्थ-दृष्टि में ही अपनी संभावनाओं को तलाशती हुयी सतत प्रयत्नशील दिखायी देती हैं।

संदर्भ-सूची

1. हिन्दी शब्द सागर, खण्ड 1, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 1965, पृ. 320
2. वैशेषिक दर्शन में मन एक अप्रत्यक्ष द्रव्य माना गया है। संस्था, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और संस्कार इसके गुण बतलाएँ गए हैं और इसे अणुरूप माना गया है। इसका धर्म संकल्प-विकल्प करना बताया गया है तथा इसे उभयात्मक लिखा है, अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों के धर्म हैं। योगशास्त्र में इसे चित्र कहा गया है। बौद्ध आदि इसे छठी इंद्रिय मानते हैं। (हिन्दी शब्द सागर, खण्ड 8, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 1965 पृ. 3775)
3. वेदान्तसार के अनुसार अन्तःकरण की चार वृत्तियाँ हैं— मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। संकल्प-विकल्पात्मक वृत्ति को मन, निश्चयात्मक वृत्ति को बुद्धि और इन्हीं दोनों के अंतर्गत अनुसंधनात्मक वृत्ति को चित्त और अभिमानात्मक वृत्ति को अहंकार कहते हैं। पंचदशी में इन्द्रियों के नियंता मन ही को अन्तःकरण कहते हैं। आंतरिक व्यापार में मन स्वतंत्र है, पर बाह्य व्यापार में इन्द्रियाँ परतंत्र हैं। पंचभूतों की गुण समष्टि से अन्तःकरण उत्पन्न होता है— जिसकी दो वृत्तियाँ हैं मन और बुद्धि। मन संशयात्मक और बुद्धि निश्चयात्मक है। (हिन्दी शब्द सागर, खण्ड-8, काशी नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी, 1965, पृ. 1530)
4. उद्धृत, पाटील, रेखा वसंत, समांतर कहानी में यथार्थबोध, जवाहर पुस्तकालय मथुरा, संस्करण 2005, पृ. 119
5. उपरिवत्, पृ. 119
6. डॉ. सत्यकाम, आलोचनात्मक यथार्थवाद और प्रेमचंद, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राईवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण-1994, पृ. 12
7. फास्ट, हावर्ड, साहित्य और यथार्थ (अनुवाद: सुषमा विजय), अरुणोदय प्रकाशन, दिल्ली संस्करण: 1993, पृ.17
8. कड्डन, जे.ए.ए., डिक्शनरी ऑफ लिटरेरी टर्म्स, इंडियन बुक कम्पनी, 36 सी कनाटप्लेस, नयी दिल्ली तथा आन्द्रे दारेन्स लि. 105 ग्रेट रसेल स्ट्रीट, लंदन, डबल्यू.सी. आई. 1977, पृ. 542
9. मिश्र, डॉ. शिवकुमार, यथार्थवाद, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण-2009, पृ. 19

10. उपरिवत्, पृ.20
11. उपरिवत्, पृ. 18
12. उपरिवत्, पृ.19
13. पाटील, रेखा बसंत, समांतर कहानी में यथार्थबोध, जवाहर पुस्तकालय, मथुरा, संस्करण - 2004, पृ.124
14. मिश्र, डॉ. शिवकुमार, यथार्थवाद, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण-2009, पृ. 230
15. शर्मा, डॉ. सुरेश (संपादक), 'यथार्थ यथास्थिति नहीं', वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 1994, पृ. 136
16. वर्मा, डॉ. रामचन्द्र (संपादक), मानक हिंदी कोश, साहित्य सम्मेलन प्रयाग, प्रथम संस्करण वर्ष-1965, पृ. 435
17. उद्धृत, पाटील, रेखा वसंत, समांतर कहानी में यथार्थबोध, जवाहर पुस्तकालय, मथुरा, संस्करण -2004, पृ.142
18. उपरिवत्, पृ.134
19. उद्धृत, जैन, डॉ. प्रेमलता, समाजवादी यथार्थवाद और हिंदी कथा-साहित्य नवचेतन प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2004, पृ.15
20. मिश्र, डॉ. शिवकुमार, यथार्थवाद, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम संस्करण-2009, 'आमुख'
21. उपरिवत्, पृ. 17
22. उद्धृत, जैन, डॉ. प्रेमलता समाजवादी यथार्थवाद और हिंदी कथा-साहित्य, नवचेतन प्रकाशन दिल्ली, संस्करण -2004, पृ. 17-18
23. उपरिवत्, पृ.18
24. उपरिवत्, पृ.19
25. उपरिवत्, पृ.18
26. उपरिवत्, पृ.121
27. सिंह, डॉ. त्रिभुवन, हिंदी उपन्यास और यथार्थवाद, हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, बनारस, प्रथम संस्करण दीपावली 2010 वि., पृ. 231

28. मिश्र, डॉ. सत्यदेव, पाश्चात्य काव्यशास्त्र अधुनातन संदर्भ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्रथम संस्करण- 2003, पृ. 329
29. उपरिवत्, पृ. 329
30. वर्मा, निर्मल तथा गोयनका, कमल किशोर, प्रेमचंद रचना संचयन, साहित्य अकादेमी नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण- 1994, पृ. 690
31. डॉ. सत्यकाम, आलोचनात्मक यथार्थवाद और प्रेमचंद, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण- 1994, पृ. 58-59
32. सिंह, डॉ. त्रिभुवन, हिंदी उपन्यास और यथार्थवाद, हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, बनारस, प्रथम संस्करण- दीपावली 2010 वि., पृ. 543-544
33. वर्मा, निर्मल तथा गोयनका, कमल किशोर, प्रेमचंद रचना संचयन, साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण- 1994, पृ. 691
34. सिंह, डॉ. त्रिभुवन, हिंदी उपन्यास और यथार्थवाद, हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, बनारस, प्रथम संस्करण- दीपावली 2010 वि., पृ. 146-147
35. डॉ. सत्यकाम, आलोचनात्मक यथार्थवाद और प्रेमचंद, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण- 1994, पृ. 44
36. सिन्हा, डॉ. सुरेश, नयी कहानी की मूल संवदेना, भारतीय ग्रंथ निकेतन, दिल्ली-6, प्रथम संस्करण- 1966, पृ. 182
37. डॉ. सत्यकाम, आलोचनात्मक यथार्थवाद और प्रेमचंद, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण- 1994, पृ. 44
38. मिश्र, डॉ. सत्यदेव, पाश्चात्य काव्यशास्त्र अधुनातन संदर्भ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्रथम संस्करण- 2003, पृ. 336-337
39. सिन्हा, डॉ. सुरेश, नयी कहानी की मूल संवदेना, भारतीय ग्रंथ निकेतन, दिल्ली-6, प्रथम संस्करण- 1966, पृ. 183
40. डॉ. सत्यकाम, आलोचनात्मक यथार्थवाद और प्रेमचंद, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण- 1994, पृ. 46-47
41. सिन्हा, डॉ. सुरेश, नयी कहानी की मूल संवदेना, भारतीय ग्रंथ निकेतन, दिल्ली-6, प्रथम

संस्करण- 1966, पृ. 184

42. डॉ. सत्यकाम, आलोचनात्मक यथार्थवाद और प्रेमचंद,(भूमिका से उद्धृत), राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली , प्रथम संस्करण- 1994

43. मिश्र, डॉ. शिवकुमार, यथार्थवाद, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2009, पृ. 54-55

44. डॉ. सत्यकाम, आलोचनात्मक यथार्थवाद और प्रेमचंद,(भूमिका से उद्धृत), राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली , प्रथम संस्करण- 1994

45. उद्धृत, पाटील, रेखा बसंत, समांतर कहानी में यथार्थबोध, जवाहर पुस्तकालय, मथुरा, संस्करण -2005, पृ 125

46. उपरिवत्, पृ.134

47. जैन, डॉ. प्रेमलता, समाजवादी यथार्थवाद और हिंदी कथा-साहित्य, नवचेतन प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण -2004, पृ. 24

48. सिंह, डॉ. त्रिभुवन, हिंदी उपन्यास और यथार्थवाद, हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, बनारस, प्रथम संस्करण- दीपावली 2010 वि., पृ.38

49. उपरिवत्, पृ.39

50. उद्धृत, माली, प्रा. रामचन्द्र, श्रीकांत वर्मा की कहानियों में यथार्थबोध, अमन प्रकाशन रामबाग, कानपुर, प्रथम संस्करण- 1997, पृ. 32

51. सिन्हा, डॉ. सुरेश, नयी कहानी की मूल संवदेना, भारतीय ग्रंथ निकेतन, दिल्ली-6, प्रथम संस्करण- 1966, पृ.176

52. उपरिवत्, पृ.177

53. उपरिवत्, पृ.179

54. मिश्र, डॉ. सत्यदेव, पाश्चात्य काव्यशास्त्र अधुनातन संदर्भ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्रथम संस्करण- 2003, पृ.338

55. उपरिवत्, पृ.339

56. उपरिवत्, पृ.341

57. उपरिवत्, पृ.342

58. उपरिवत्, पृ.343
59. जैन, डॉ. प्रेमलता, समाजवादी यथार्थवाद और हिंदी कथा-साहित्य, नवचेतन प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण -2004, पृ. 25
60. मिश्र, डॉ. शिवकुमार, यथार्थवाद, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2009, पृ. 68
61. उपरिवत्, पृ.79-80
62. उपरिवत्, पृ.71
63. उपरिवत्, पृ.71
64. उपरिवत्, पृ.70
65. उपरिवत्, पृ.68
66. उपरिवत्, पृ.69
67. डॉ. अमरनाथ, हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2009, पृ. 228
68. उपरिवत्, पृ.288
69. उपरिवत्, पृ. 229
70. उपरिवत्, पृ.229
71. उपरिवत्, पृ.229
72. सिन्हा, डॉ. सुरेश, नयी कहानी की मूल-संवेदना, भारतीय ग्रंथ-निकेतन, दिल्ली-6, प्रथम संस्करण-1966, पृ. 159
73. मिश्र, डॉ. शिवकुमार, यथार्थवाद, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण-2009, पृ. 22
74. जैन, डॉ. प्रेमलता, समाजवादी यथार्थवाद और हिंदी कथा-साहित्य, नवचेतन प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण -2004, पृ.21
75. मिश्र, डॉ. शिवकुमार, यथार्थवाद, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण-2009, पृ.169

76. उद्धृत, जैन, डॉ. प्रेमलता, समाजवादी यथार्थवाद और हिंदी कथा-साहित्य, नवचेतन प्रकाशन दिल्ली, संस्करण -2004, पृ. 33
77. मार्कण्डेय, कहानी की बात, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण- 1984, पृ. 12
78. उपरिवत्, पृ.13
79. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1 प्रथम संस्करण- 2002, भूमिका, भूदान (कहानी-संग्रह), पृ. 250
80. 'कथा', अंक-15, मार्च 2011, पृ. 217
81. मार्कण्डेय, कहानी की बात, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद- प्रथम संस्करण-1984, पृ. 13
82. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्रथम संस्करण- 2008, भूमिका,
83. 'कथा', अंक-15, मार्च 2011, पृ. 219
84. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-1, प्रथम संस्करण- 2002, भूमिका, हंसा जाई अकेला (कहानी-संग्रह), पृ. 185
85. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्रथम संस्करण 2002, भूमिका, सहज और शुभ (कहानी-संग्रह), पृ. 400
86. 'कथा', अंक-15, मार्च 2011, पृ. 221
87. उपरिवत्, पृ. 222
88. उपरिवत्, पृ.223